चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 16 अंक 1 **जुलाई-सितम्बर 2018**

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आरथा भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपए
अन्दर कवर	15,000.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रयी हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
3/801 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5
राफेल का हौआ

1. आचार्य शुक्ल की 'करुणा' की आख्या 7
डी.एन. प्रसाद

2. ईरान में धार्मिक स्वतंत्रता की बढ़ती माँग 13
शंकर शरण

3. कलातीर्थ देवगढ़ - यात्रा का आनंद 20
भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

4. महिषासुर विमर्श की इतिहास-दृष्टि : शम्बुक का द्राविड़ प्राणायाम 28
अम्बिकादत्त शर्मा, विश्वनाथ मिश्र

5. आधुनिकता और भारतीयता पर कुछ विचार 46
लक्ष्मी नारायण मित्तल

6. मस्तिष्क-विरोध की प्रथम घटना 52
केशीकांत शकुन

7. पूर्वोत्तर भारत : लोक-भाषाएँ और लोक-साहित्य (संरक्षण का प्रश्न) 56
हेमराज मीणा ''दिवाकर''

8. पाठालोचन : प्रकृति एवं प्रविधि 60
हितेन्द्र कुमार मिश्र

9. ऋतु गीतों में नारी संवेदना 68
छोटे लाल बहरदार

10. अथ व्यंग्यम् 78
सेक्युलर कहलाने का औचित्य
नंदलाल मेहता बागीश

11. तुलसी का परंपरावाद 86
शोभाकांत झा

12. खालसा 90
किशोरीलाल न्यास

13. पुस्तक-चर्चा 103
नाटक हानूश और कोणार्क : कलाकार का सत्ता से संघर्ष
शशि पंजाबी

14. पुस्तक-चर्चा 109
हिंदी प्रवासी साहित्य की त्रिखंडी प्रस्तुति
कृष्ण वीर सिंह सिकरवार

15. साहित्य-चर्चा 112
डॉ. देवेंद्र आर्य के काव्य में ऊर्जस्वित सामाजिक बोध
मृत्युंजय उपाध्याय

16. पाकिस्तान, जिन्ना और महात्मा गाँधी 122
डॉ. लक्ष्मी नारायण मित्तल

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

राफेल का हौआ

भारत चीन तथा पाकिस्तान जैसे शत्रु देशों से घिरा राष्ट्र है। फिर नेपाल जैसे पड़ोसी राष्ट्र भी हैं, जिनके साथ उसके संबंध अच्छे नहीं कहे जा सकते। ऐसे में यह देश अपने सुरक्षा संबंधी खतरे के प्रति लापरवाह रहने का खतरा तो बिल्कुल नहीं उठा सकता। लेकिन लगता तो कुछ ऐसा ही है कि हमारा राजनीतिक नेतृत्व हमारी सुरक्षा संबंधी आवश्यकताओं के प्रति उतना सावधान नहीं जितना उसे होना चाहिए। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि यह बात बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही तरह की सुरक्षाओं पर लागू होती है। उदाहरण स्वरूप हम अपनी सेना के आधुनिकीकरण की समस्या को वर्षों तक नजरअंदाज करते रहे हैं; मनमोहन सिंह के प्रधानमंत्रित्व के दौरान भारतीय वायु सेना की क्षमता 44 स्क्वैड्रन से घटकर मात्र 33 स्क्वैड्रन रह गयी थी; फिर जिस रैफेल की खरीददारी पर कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष राहुल गांधी इतना शोरगुल मचा रहे हैं और जिसकी खरीद का समझौता मोदी सरकार ने मात्र 17 महीने में कर लिया, उसकी खरीद के लिए उनकी पार्टी 10 वर्षों में कुछ भी नहीं कर पायी। वैसे भी हम आजादी के बाद सैन्य उपकरणों के निर्माण में बहुत ढीले रहे हैं। फिर विदेशों से अत्यावश्यक सैन्य उपकरणों के आयात में इस तरह की ढिलाई क्यों?

फिर जहाँ तक आन्तरिक सुरक्षा संबंधी हमारे नेताओं की समझ एवं प्रतिबद्धता का प्रश्न है, वे वहाँ भी खरे नहीं उतरते। क्षुद्र दलीय एवं व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए नक्सलियों से उनकी साँठगाँठ के समाचार लगातार आते ही रहते हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि देश की वाह्य एवं आन्तरिक सुरक्षा से जुड़े मुद्दों पर तो हमारे राजनीतिक दलों के बीच विवाद होना ही नहीं चाहिए, जैसा कि आज हो रहा है। वैसे रक्षा जैसे संवेदनशील मुद्दे को बिना ठोस आधार के विवाद का विषय बनाना तथा उसे अदालत तक ले जाना ठीक नहीं था, और इस तरह के विवाद से हमें बचना ही चाहिए था। जैसा कि हम जानते हैं उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई की बेंच ने राफेल संबधी अपने फैसले में कहा कि उसे इस सौदे में कोई अनियमितता नहीं दिखी, अतः इसकी जाँच की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने इस संबंध में दायर सभी याचिकाओं को खारिज कर दिया। कांग्रेस का

आरोप था कि उनकी सरकार द्वारा प्रति विमान 526 करोड़ की दर से 126 विमान को खरीदा जाना था, जबकि मोदी सरकार 1670 करोड़ रुपये की दर से केवल 36 विमान खरीद रही है। इस पर बेंच का मानना था कि राफेल लड़ाकू विमान की कीमत तय करना न्यायालय का काम नहीं।

अदालत के निर्णय के बाद इस विवाद को खत्म हो जाना चाहिए था, जो नहीं हुआ। फिर कांग्रेस विमानों के मूल्यों की जानकारी का खुलासा चाहती है जो सुरक्षा से जुड़े कारणों के चलते संभव नहीं। स्पष्टतः हमारी राजनीति की दिशा एवं दशा दोनों ही गलत ढर्रे पर हैं, जो दुखद है।

— ब्रज बिहारी कुमार

आचार्य शुक्ल की 'करुणा' की आख्या

डी.एन. प्रसाद

मानव-मन की भाव वृत्तियों में 'करुणा' का भावार्थ भावसागर की भाँति विस्तृत है, जिसका व्यवहार प्रतिपादन क्षणकाल, कालांश और परिस्थितियों के स्वभाववश स्वतः उपजित होता है। अनायास करुणा न कल्पित है, न उपजित! मन के मीठे गह्वर में स्वभाव मनस के अनुकूल करुणा का कुआँ लबालब भरा रहता है सभी जैविक प्राणियों में, अनुकूल परिस्थिति आते ही मन-विवर से करुणा का जल छलक-छलक जाता है और परिवेश की परिधि से नवीन पथ का दिशा-निर्देश भी मिल जाता है।

करुणा की उत्पत्ति में रिश्ते का रेशा ही राग का रागी होता है और उसी आयाम में करुणा का विस्तार भी निःसृत रहता है। अक्सर यह होता है कि करुणा की सहोदरता संबंधों के क्षेत्र का क्षत्रप होती है और इसी परिधि में करुणा की अनुषंगी वृत्तियाँ भी स्पष्ट नजर आने लगती हैं, क्योंकि करुणा अनायास आने वाली वृत्ति नहीं है। हालाँकि यह मनुष्यता की सहज वृत्ति है, फिर भी यह आलंबन की अनुषंगी है तथा इसके अनुषंगन में समादर होती हैं—श्रद्धा, भक्ति, आस्था और प्रीति की मनोवृत्तियाँ जो मनस् के अनुकूल यादृच्छिक होती है। बिना आलंबन की परिधि के करुणा का व्यास त्रिज्या बनकर लोपित हो जाता है, अस्तु आलंबन का मात्रिक मनोविश्लेषण ही करुणा के अंतरंग भाव को पोषित करता है।

सामान्यतः किसी दुःख या दुःख से उपजित करुणा को स्थायी भाव की करुणा मान लेना क्षणकाल की करुणा होती है, कालांश की करुणा यांत्रिक करुणा होती है परंतु स्व के स्व से संबंध की करुणा या स्व-संबंध की करुणा जहाँ रिश्ते का राग प्रीति से, आस्था से, श्रद्धा से और भाव की भक्ति से भरा होता है, वह करुणा स्थायी भाव की पूरक होती है। जीवन राग, जीवन सफर और जीवन मूल्य इसी करुणा के सहयात्री हैं। ध्यातव्य है कि यहाँ भक्ति कोई नवधा भक्ति नहीं है, यहाँ भक्ति भाव की अनुषंगी

*महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गाँधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र), मो. 09420063304, ई-मेल : dnpsayal@yahoo.co.in

है, भाव स्वभाव का पोषक है, भक्ति इसकी परम पूर्णता की द्योतक है, दूसरे शब्दों में कहें कि भक्ति भाव की भूखी होती है, यह प्रासंगिक भी है। यहाँ यह भी है कि आस्था और श्रद्धा करुणा के दो बड़े उपजीव्य हैं, इसके बिना करुणा का कुआँ छलकता ही नहीं है। भले प्रीति इसमें उत्प्रेरण का कार्य संपादित करती है और इसी प्रीति के मात्रिक छंद के परिपोषण में करुणा का आयत विनिर्मित होता है। इस परिक्षेत्र में श्रद्धा और आस्था प्रीति के उपजीव्य हुए। ढाई आखर का प्रेम यहाँ नहीं है, ढाई आखर की प्रीति यहाँ है इसलिए कि स्थायी भाव की करुणा के हेतु प्रीति ही अक्षरशः उपजीव्य है, प्रेम नहीं। प्रेम बाह्य की ज्ञानात्मक वृत्ति है, प्रीति अंतस् की भावात्मक वृत्ति है और करुणा अंतस् की ही स्रोतवाहिनी है, इसलिए भी करुणा का आदि और अंत का भाव अंतस् स्रोत की संवाहिका है।

बहुधा लोग दया भाव को करुणा मान लेते हैं, लेकिन ऐसा नहीं है; दया भाव उपरिवत् कृपादृष्टि का बोध है और कृपादृष्टि किसी पर एहसान का सूचक है, ऐसे में करुणा कहाँ? वहाँ तो कृपा है जिसका करुणा से कोई नाता-रिश्ता ही नहीं है। अस्तु, करुणा भाव और दया भाव में पार्थक्य है। यह भी है कि श्रद्धा और दया में पर्याप्त भेद होता है, क्योंकि जो दान आचार्यों, धार्मिकों और विद्वानों को दिया जाता है वह श्रद्धावश दिया जाता है और वही दान अंधों, लँगड़ों-लूलों को दिया जाता है वह दया के अंतर्गत आता है। अतः शक्तिशाली या सदाचारी के प्रति हमारा श्रद्धाभाव क्षणकाल करुणा का भाव-सा उपजित होता है और निर्बल-असक्त के प्रति कालांश करुणा का भाव! दोनों ही स्थितियाँ करुणा के स्थायी भाव के पटाक्षेपण का भाव हैं।

इसी तरह श्रद्धा और पेम के भाव को भक्ति कहते हैं। श्रद्धा पात्र में पूज्यबुद्धि के साथ जब उसके प्रति मन में घनिष्ठता प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है तथा उसकी सत्ता से साक्षात्कार करना चाहते हैं तभी भक्ति का आविर्भाव होता है। भक्ति की दशा में हम अपने जीवन-क्रम का थोड़ा-बहुत अंश श्रद्धेय के लिए अर्पित करने को तत्पर रहते हैं। इसके साथ ही श्रद्धेय के जीवन-क्रम पर भी अपना अधिकार जमाना चाहते हैं, इसी को दूसरे शब्दों में 'आत्म-निवेदन' कहते हैं। तात्पर्य यह कि श्रद्धा में भक्ति द्वारा हम भक्ति-भाजन से विशेष घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं, उसकी सत्ता में विशेष रूप से योग देना चाहते हैं। यह योग देना ही प्रीति की तरफ ले जाता है। चूँकि प्रीति मानव का एकदम सहोदर भाव है एवं इसी के गर्भनाल से करुणा के कुएँ में हलचल होती है और करुणा का स्थायी भाव उपजित होकर श्रद्धेय के प्रति अर्पित हो जाता है। यहाँ तक कि जब किसी व्यक्ति पर हमारी श्रद्धा होती है तब हम अपने जीवन में उपार्जित किसी वस्तु को भी उसे अर्पित कर देते हैं, पर भक्ति में हम अपने जीवन तक को अर्पित कर देते हैं। अर्थात् करुणा में देने की परम प्राप्ति भाव श्रद्धा और भक्ति के मार्ग से ही आता है और सच पूछिए तो करुणा का चरम भाव देना ही है। चाहे जैनेंद्र की सुनीता हो, गुलेरी का लहना हो, प्रसाद की

देवसेना हो, शिवप्रसाद सिंह का भैरो पाण्डेय हो या आषाढ़ का एक दिन की मल्लिका हो! सब-के-सब देने के भाव में करुणा के स्थायी भाव से भरे हुए हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इसलिए कहते हैं, ''श्रद्धा तो जागरण है।'' यह एक ऐसा भाव है कि जागरण का योग लग गया तो भक्तिभाव की प्रीति में पककर करुणा का दान दायित्व में पल्लवित होने लगता है। श्रद्धा में हमारी दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और कर्मों की कांति में करुणा पुष्पित होने लगती है जिसका सुवास सामाजिक को भी प्राप्त होता है। शुक्ल जी इस कारण भी श्रद्धा को एक सामाजिक भाव मानते हैं, क्योंकि करुणा भी व्यक्ति से समाज में ही प्रसारित होती है। इसी भाव के कारण बुद्ध की करुणा प्रासंगिक हुई।

श्रद्धा और आस्था के भाव से भक्ति-भाव का उद्‌गम होता है और इस भक्ति-भाव का उद्‌गम स्थल हृदय है जहाँ से प्रीति की उत्प्रेरणा होती है। प्रीति का स्थायी भाव ही करुणा है इसलिए करुणा हृदय की बात है—'तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन'। (कामायनी) श्रद्धा की करुणा से कर्मों में सहजता आती है, यहीं से सत्‌कर्म की नींव पड़ती है। गाँधी में सहज करुणा का स्थायी भाव था, इसलिए वे सार्वभौम मानवीय हो गए, क्योंकि मानवीय सान्निध्य की परिलब्धि गाँधी में थी। सान्निध्य की उपलब्धि भी भक्ति की श्रद्धा से प्राप्त होती है। सामीप्य भी करुणा का गम्य भाव है। एतद् सान्निध्य ही करुणा का विस्तार भाव है जिसमें स्वानुभूति के द्वारा मनुष्य परमानुभूति की धारणा प्राप्त कर लेता है; करुणा का यह उच्चतम सत्त्व है। मनुष्य की संपूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य इसमें है, अतः इसमें दुःख के विपरीत करुणा काया को कल्पित कर कंचन की भाँति कायांतरित करने की सुफल श्रद्धा रखती है। ऐसे में ''संबंध-ज्ञान के होने पर दुःख के भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं'', आचार्य शुक्ल की यह चिंतना समीचीन नहीं लगती। एक तो जहाँ शुक्ल जी बच्चे के संबंध-ज्ञान की बात करते हैं, तो यहाँ बाल मनोविज्ञान के अनुसार बच्चा निर्मल भाव का द्योतक होता है और सुख-दुःख का वह अनुसरण करता है अपने पारिवारिक संबंधों के बीच, यहाँ करुणा का कहीं कोई स्थान ही नहीं। फिर जब शुक्ल जी की विचारणा कि ''करुणा का उल्टा क्रोध है'' यह भी न व्याकरणिक बोध के अनुसार विपरीतार्थ के अनुकूल है और न सहचर संबंध बोधक! यहा। यह भी समीचीन नहीं लगता कि करुणा का क्रोध से विपरीतार्थक संबंध का सत् कहाँ है? क्रोध एक क्षणिक भाव है। करुणा के साथ उसका कहीं कोई संधान नहीं है, हाँ करुणा का विपरीतार्थक क्रूरता हो सकता है क्योंकि क्रोध का संचारी भाव प्रताड़ना है, परंतु क्रूरता करुणा के अनुकूल विपरीत भाव की बोधक भी है। ऐसे में क्रोध का करुणा से कोई सार्थक या विपरीतार्थक संबंध नहीं है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने निबंध 'करुणा' की शुरुआत दुःख, उत्तेजना,

क्रोध, सुख आदि विकारी शब्दों से किया है जबकि करुणा अविकारी शब्द है और इसकी उत्पत्ति संबंध की आस्था और प्रीति का आलंबन से है। महमूद का सोमनाथ को तोड़ना और जवाहरात सँभालकर रखना लोभ है और जहाँगीर का शेर अफगान को मरवाना तथा नूरजहाँ को सुरक्षित रखना भोग है। लोभ और भोग दोनों का करुणा से कोई अर्थ या भाव संबंध नहीं है और करुणा के भाव का कहीं कोई समानार्थक भाव भी नहीं। दूसरे के दुःख को देखकर दुःखी होना यहाँ भी करुणा बोध नहीं है, यह तो मानव-मन का सहज क्षण-भाव है और सुख से सुखी होना एक एकांकी भाव! संबंधों के आलंबन में ये भावनाएँ किसी के प्रति कम तथा किसी के प्रति ज्यादा होना यह सहज क्षण है, संसारी का स्वभाव है, करुणा नहीं!

अलबत्ता, अत्याचारी को गाँधी क्षमा करने की बात करते हैं ताकि उसके अंतस् से विकारी भाव का परिशोधन किया जा सके, जिससे उसमें मानवता का गुण जो सुप्त है, प्रफुल्लित हो जाए यथा ''अपराधी को नहीं उसके अपराध को क्षमा'' करने की बात करते हैं। यहाँ करुणा का मानवीय भाव है जहाँ स्व से मानव के प्रति सहज संबंध में करुणा का भाव रोपित करता है। ईसा भी अपने ऊपर कील ठोंकने वाले को माफ करने की बात करते हैं—''इन्हें माफ कर दो, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।'' यह वाक्य बोध माननीय करुणा का बोध है, मृत्यु के प्रत्यक्ष दर्शन पर भी, यहाँ महामृत्युंजयी करुणा का भाव है।

संसारी के लिए यह सत्य है कि दूसरों के दुःख से दुःखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है, परंतु दूसरों के दुःख का जो परिज्ञान होता है, वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है, इसमें दया तो स्वाभाविक है, परंतु करुणा का जो व्यापक मूल्य है वह यहाँ उपयुक्त नहीं है। क्षणांश करुणा का आना और जाना पूर्णता बोधक नहीं है उसे 'करुणा' नाम देने के लिए। आचार्य शुक्ल करुणा के हेतु दुःख की विशेषता पर बल देते हैं, लेकिन करुणा जिस पर आती है जिस व्यक्ति के लिए, वहाँ दुःख महत्त्वपूर्ण नहीं होता, वहाँ आत्मीयता प्रासंगिक होती है करुणा विस्तार के लिए जो करुणा के लिए मूल मनोवृत्ति में होती है। राह चलते दुःखी के लिए दुःख प्रकट करना करुणा नहीं है। ''मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है।'' आचार्य शुक्ल की यह बात बिल्कुल सत्य है, सही है, परंतु दुःख के कारण करुणा का उदय हुआ, यह समीचीन नहीं है और दुःख अगर मनोविकार है तो सुख फिर क्या है? साथ ही दुःख से करुणा का उद्गम अगर प्रासंगिक है तो फिर दुःख के प्रकारों की व्याख्या लाजिमी है, लेकिन आचार्य शुक्ल ने दुःख के प्रकारों की चर्चा नहीं की है केवल संबंधों के मार्फत छोड़कर। परंतु संबंध फिर कैसा? क्योंकि जहाँ प्रीति नहीं है वहाँ करुणा कैसी? केवल दुःख की व्याप्ति से करुणा का कुआँ नहीं छलकता। किसी रमणी को, किसी महात्मा को दुःख में देख कर दुःख तो जरूर होगा, परंतु 'करुणा' नहीं। जब तक

कि उसके साथ प्रीति, आस्था, श्रद्धा का भाव नहीं होंगे। हाँ, अपने भाई-बंधु को दुःख में देख दुःख मिश्रित करुणा उमड़ेगी, परंतु वह भी अर्पण भावना की करुणा नहीं होगी, वह होगी दायित्व-विधान-भाव की करुणा! क्योंकि करुणा तो मन का एक ऐसा भाव है जिसे कोई संवेदनशील मनोवैज्ञानिक ही समझ सकता है या कोई संवेदनशील साहित्य अनुषंगी! सर्व सामान्य की करुणा में जीवन-निर्वाह की झलक जरूर मिलेगी, परंतु वह एहसास जो करुणा का कल्प है, नहीं मिलेगा। उस अर्थ में दुःख की करुणा के सापेक्ष में व्याख्या बहुत ही संकुचित लगता है। हाँ, अज्ञेय के कवि-कर्म में 'दुःख सबको माँजता है।' यहाँ दुःख करुणा की अपेक्षा नहीं करता। जब एक तरफ आचार्य शुक्ल कहते हैं कि ''सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यंत अधिक है'' तो फिर यहाँ दुःख से करुणा का संवरण कहाँ? दुःख तो सबको माँजता है, परिष्कृत करता है, संघर्ष से सत्त्व प्राप्ति की ओर ले जाता है, यहाँ करुणा का भावसंसार कहाँ?

''मनुष्य के अंतःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगाने वाली वृत्ति करुणा है।'' आचार्य शुक्ल की उक्ति अक्षरशः सत्य है परंतु जब करुणा और सात्त्विकता का संबंध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करने वाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है तो फिर यहाँ करुणा का विषय दुःख कहाँ है? यहाँ तो श्रद्धा है। बुद्ध की करुणा घायल हंस के प्रति श्रद्धा थी, जो मानवीय प्रतीक का उदाहरण प्रस्तुत हुआ। 'भवतु सब्बमंगलं'। करुणा की कामना है मंगलम्। महावीर की करुणा 'जीवेत जीवनम्' की करुणा है। दोनों में करुणा भाव की सार्वभौमिकता है। अस्तु करुणा दुःख का कारण नहीं। यहाँ तक कि दक्षिण अफ्रीका में गाँधी को जब मैरित्सबर्ग स्टेशन पर उचित टिकट रहते हुए भी रंगभेद के कारण उनका सामान फेंककर उतार दिया गया और वे जाड़े की सर्द रात में बिना प्रतिरोध या कम्प्लेन के अविचलित चिंतन के हाहाकार में मानवीय करुणा की पुकार सुन रहे थे – रंगभेद के लिए मेरे साथ ऐसा तो औरों के साथ क्या-क्या हो रहा होगा। लौट चलूँ या ठहर जाऊँ! लौट गया तो रंगभेद में मानवीय करुणा की पुकार का क्या होगा? उस हाहाकार! उस चित्कार! का क्या होगा? मेरे सत्य के साथ ऐसी अमानवीयता! मानवीय करुणा के पारावार से गाँधी के अंदर करुण रस का रिसाव होता है और सत्याग्रह की गर्भधारणा के साथ गांधी उठ खड़े होते हैं करुणा के भाव संसार में और सफल होते हैं। यहाँ स्व से स्व की करुणा पर 'पर' हावी होता है और वह समष्टि की करुणा बन जाती है, यहाँ भी दुःख का रोपण नहीं है, भावना का चोटिल जागरण है - करुणा का महा अवतार!

आदि कवि वाल्मीकि की करुणा 'क्रौंचवध' के दुःख के कारण नहीं थी, वह करुणा थी सृजन के विघटन के कारण! 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान' वियोगी पंत का वियोग दुःख नहीं था, आह थी। और आह! दुःख नहीं,

विस्मयादिबोधक मानवीय बोध है और दूसरे तरफ उपजित गान की करुणा भी है। इस आह और गान में करुणा का आनंद है जो कवि-रूप में मानवीय गुण प्राप्ति है। अपने निबंध में आचार्य शुक्ल जी कृष्ण-यशोदा-उद्धव प्रसंग में जो काव्य-मर्म उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं–

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन-छिन आगो लैहै?

इस काव्य-मर्म में भी करुणा का कारक माँ का दुःख नहीं, वात्सल्य का विलगित सुख है जो करुणा भाव से फूटता है, यह भी वात्सल्यिक करुणा का भाव है।

अंततः आचार्य शुक्ल बार-बार दुःख आवृत्ति के बाद करुणा का आलंबन प्रीति पर अपनी अभिव्यक्ति कथन को ठोस करते हैं कि ''वह (प्रीति) जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होती है। जीवन का बहुत-सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है।'' अस्तु दुःख के कारण करुणा का प्रसार क्षणभंगुर है बल्कि करुणा जैसी मानवीय मनोवृत्ति का मूल आधार प्रीति है, श्रद्धा है। आचार्य शुक्ल के मनोविकारों (मनोवृत्तियों) संबंधी लेखमाला 1912 से 1919 तक 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए थे जो 'विचार वीथी' नाम से 1930 में प्रकाशित हुआ और पुनः कुछ और निबंधों के साथ स्वयं शुक्ल जी द्वारा 1939 में 'चिंतामणि' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। चिंतन की मणि का पहला भाग–शुक्ल जी के निबंध लेखन का वह काल सच में दुःख का काल था और सच पूछिए तो काल की अवधारणा का फलक उस काल के चिंतन पर प्रतिफलित भी होता है यथा काल जब विघटन का हो तो –'दुःख ही जीवन की कथा रही।' (निराला) ऐसे उदाहरण भक्तिकाल में भी प्रत्यक्ष होते हैं। शुक्ल जी के लिए ब्रिटिश हुकूमत का दुःख, हिंदी की सुरक्षा–संघर्ष भरा दुःख, हिंदी साहित्य के आदिकाल में चारण दुःख, और मध्यकाल में भक्ति का दास्य दुःख, यही कारण कारक बना शुक्ल जी के करुणा भाव का! इसलिए उन्होंने अपने 'करुणा' शीर्षक निबंध में दुःख को ही आधार बनाया, परंतु अंत में मन की विशेष वृत्ति जिसके कारण मनोभाव में परिवर्तन और परिमार्जन हो जाना सहज और सुगम होता है और जिसके करुण कारक से करुणा अपना आयाम प्राप्त करती है, उस 'प्रीति' नामक मनोवृत्ति पर दबे पाँव ही सही, शुक्ल जी अंत में आकर ठहर जाते हैं और स्वीकार करते हैं कि यही जीवन-व्यापार और मनोवृत्तियों के संशोधन और संस्करण में मुख्य आलंबन का संबंधबोधक पर्याय है जिसके पर्यसन से करुणा उत्सर्जित होती है। यही करुणा का भाष्य परिमेय है।

ईरान में धार्मिक स्वतंत्रता की बढ़ती माँग

शंकर शरण*

ईरान में सरकार ने 29 महिलाओं को सिर का हिजाब फेंकने के लिए गिरफ्तार किया है। वहाँ सार्वजनिक रूप से महिलाओं का अपना सिर न ढँकना एक अपराध है। लेकिन बड़ी संख्या में महिलाएँ इस का प्रतिरोध कर रही हैं। वे इसे साफ तौर पर उन के 'जीवन में मजहब का अनुचित दखल' कहकर विरोध कर रही हैं। यह एक बड़ी बात है।

वस्तुतः, यह केवल हिजाब का विरोध ही नहीं, बल्कि आम तौर पर मजहबी दबदबे का विरोध है। हाल में ईरान में उठे सरकार विरोधी आंदोलन में एक अनोखी बात देखी गई। आंदोलनकारी लोग केवल सत्ताधारियों के प्रति ही आक्रोश नहीं प्रकट कर रहे थे। वे इस्लामी वैचारिक, मजहबी तानाशाही के खिलाफ भी खुलकर बोल रहे थे। उनका आक्रोश केवल आर्थिक, राजनीतिक भ्रष्टाचार के विरुद्ध नहीं, बल्कि सामाजिक, वैचारिक स्वतंत्रता के लिए भी था।

हालाँकि, ईरान के लिए यह बिलकुल नई बात नहीं है। चाहे सोशल मीडिया के कारण इस बार सारी दुनिया ने यह देखा। सच यह है कि ईरान में लंबे समय से इस्लामी मतवाद को चुनौती मिली रही है। इस हद तक, कि बौद्धिक, उच्चवर्गीय तबका इस्लामी कायदों, प्रतीकों का प्रदर्शन करनेवाले लोगों को पिछड़ा, मंदमति समझता था। यह तो 1979 में अयातुल्ला खुमैनी की इस्लामी क्रांति का दबदबा था, जिससे बातें कुछ समय के लिए दब गई, लेकिन खत्म नहीं हुईं।

यह आम ईरानी लोगों के रहन-सहन, पहनावे और सामाजिक व्यवहार में आज भी स्पष्ट है। उसमें प्रत्यक्षतः कोई इस्लामी झलक नहीं दिखती। यह केवल ऊपरी बात नहीं है। तमाम मुस्लिम देशों में ईरान और मिस्र में ही सर्वाधिक उदार लेखक, कवि, आदि होते रहे हैं। कारण, इन देशों की विशिष्ट प्राचीन सभ्यता है, जो इस्लाम के

* प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र, राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली-110016, ई-मेल : hesivh@gmail.com

पहले विश्व-प्रसिद्ध थी। इस्लामी अधीनता में आने के बाद भी इन देशों की वह बौद्धिक, सांस्कृतिक, ज्ञान-परंपरा समूल नष्ट नहीं हुई। किसी न किसी रूप में उसकी अंतर्धारा वहाँ बनी रही। वहाँ के प्रबुद्ध लोग समझे बिना नहीं रह सकते थे कि इस्लाम के पहले और बाद में उनके देश-समाज में किस प्रकार के परिवर्तन हुए। उन्हें क्या मिला और क्या छिना।

इसीलिए, आधुनिक नवजागरण के बाद जब यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान और उद्योग की उन्नति दुनिया में फैलने लगी तो ईरान में भी अपने मूल सांस्कृतिक, दार्शनिक स्रोतों को जानने-समझने की उत्सुकता बढ़ी। यूरोप में ग्रीक चिंतन के प्रति नया आदर जगा था और प्लेटो, अरस्तू आदि ईसा-पूर्व महान चिंतकों के प्रति गहरी रुचि पैदा हुई।

उसी तरह, ईरानियों ने भी ध्यान दिया कि इस्लाम-पूर्व फारसी सभ्यता महान थी। फलतः ईरानी लोगों में जरथुस्त्र के धर्म-दर्शन के प्रति उत्सुकता बढ़ी, जो इस्लाम से पहले फारस में प्रतिष्ठित था। इसी दर्शन को भारत में पारसी लोग मानते हैं, जो फारस पर इस्लामी आक्रमण के बाद भाग कर यहाँ आए थे और उस धर्म को बचा कर रखा।

गत कुछ पीढ़ियों से ईरानी शिक्षित वर्ग में जरथुस्त्र दर्शन के प्रति आकर्षण इसलिए भी बढ़ा, क्योंकि यह दिनो-दिन और स्पष्ट होने लगा कि इस्लामी मतवाद वैश्विक मनीषा की तुलना में कुछ जोड़ने के बदले केवल अन्य सभी ज्ञान, दर्शन के प्रति उदासीन या हिकारत रखता है। इसी कारण अनेक ईरानी बौद्धिक अपने देश को अरबी साम्राज्यवाद का शिकार समझते हैं, जिसने एक महान और उन्नत देश, फारस, पर अधिकार कर इसकी सभ्यता-संस्कृति को नष्ट किया। उसका सहज विकास बाधित किया। इस तरह, वे इस्लाम को एक बाहरी, थोपी गई चीज समझते हैं।

क्योंकि यह तो जगजाहिर इतिहास है कि सातवीं सदी में फारस पर आक्रमण के द्वारा ही वहाँ इस्लाम जमा। उसे फारसी लोगों ने स्वेच्छा से स्वीकार नहीं किया था। असंख्य जरथुस्त्र-पंथी वहाँ से भागकर भारत, चीन और बाल्कन देशों में जाकर रहे। किन्तु उन में कुछ ईरान में भी रहते हुए सदियों तक प्रतिरोध करते रहे। पंद्रहवीं सदी तक भी ईरान में उनकी संख्या काफी थी, विशेषतः गीलान और मोजनदारान प्रांतों में। उन्होंने इस्लामी शासकों को जजिया टैक्स दिया और अपमानजक पहचान का पीला पट्टा पहना था। वैसे प्रतिरोधी लोग आज भी हैं। बल्कि, अब उनकी संख्या कुछ बढ़ी ही है। खुमैनी सत्ता से पहले वे खुलकर नवरोज (पारसी नववर्ष) और वसंतोत्सव मनाते थे। अभी भी ईरान का आधिकारिक नववर्ष नौरोज से ही शुरू होता है।

वस्तुतः 1970 के दशक तक ईरानियों के बीच प्राचीन जरथुस्त्र परंपरा की बात करना, उस पर गर्व करना, आदि बड़ी सामान्य बात थी। प्रवासी ईरानियों के अनुसार तब ईरान में बुर्का, आदि पहननेवाली स्त्री को अशिक्षित, गँवार, छोटे काम करने वाली नौकरानी, आदि जैसा समझा जाता था। वह भावना खुमैनी की इस्लामी क्रांति के तीन

दशक बाद भी खत्म नहीं हुई है। अनेक शिक्षित ईरानी मानते थे कि इस्लाम से फारस को लाभ नहीं हुआ और वह भावना आज भी है। बल्कि अरबों के प्रति ईरानियों की स्थायी दुश्मनी में यह भाव भी है, जो गलती से इस्लाम के बदले अरबों को अपना शत्रु समझता है।

बहरहाल, ईरानियों में अपने मूल धर्म-दर्शन, जरथुस्त्र के विचारों के प्रति रुचि लेने वाले लोगों की संख्या बढ़ रही है। इसे वे अपनी सभ्यता की गौरवशाली थाती समझते हैं, जो इस्लाम से दौ हजार वर्ष पहले उत्पन्न हुआ था। वहाँ इस्लाम छोड़कर गुप्त रूप से पारसी धर्म में पुनरांतरण भी हो रहे हैं। यह नवयोत (नवजोत) संस्कार द्वारा होता है। अमेरिका और यूरोप में रहनेवाले ईरानियों में यह अधिक खुले रूप में है, जिनके परिवारों में कई जरथुस्त्र धर्म-रीतियों का पालन होता है। प्रवासी ईरानियों के बीच जरथुस्त्र धर्म-दर्शन पर शोध, प्रकाशन करनेवाले संगठन हैं। उनका ईरान में रहनेवाले लोगों के साथ भी सक्रिय संपर्क है।

गत चार-पाँच दशकों में दुनिया में इस्लामी दबदबे के नए उभार ने इस प्रक्रिया को बलपूर्वक दबाए रखा। सन् 1979 में खुमैनी के सत्तारोहण के बाद अनेक जरथुस्त्र-पंथी वहाँ से पलायन कर गए। जो रहे, वे छिपे-से मौन हो गए। इसीलिए ईरान में पारसी अंतर्धारा के प्रति आज दुनिया को बड़ी कम जानकारी है। लोग यह तथ्य भी नहीं जानते कि 2011 की जनगणना के अनुसार आधिकारिक रूप से आज भी ईरान में 25 हजार जरथुस्त्र मतावलंबी हैं। भारतीय पारसियों समेत दुनिया भर में जरथुस्त्र-पंथ एक जीवित धर्म है, जिनके माननेवाले हर कहीं जीवन के विविध क्षेत्रों में अग्रणी लोग हैं।

सन् 2007 में 'फेडरेशन ऑफ जोरास्ट्रियन एसोसियेशन ऑफ अमेरिका' ने गणना कर पाया था कि विश्व में अभी लगभग दो लाख जरथुस्त्र-पंथी हैं। लेकिन यह संख्या काफी अधिक हो सकती है। ईरान में जरथुस्त्रपंथियों की गिनती संपूर्ण नहीं है। कई लोग इस्लामी शासन के भय से इसे व्यक्त नहीं करते, न खुलकर नवयोत का उपयोग करते हैं। क्योंकि अभी ईरान में इस्लाम छोड़ने की सजा मौत है। इसीलिए बाहर रहनेवाले जरथुस्त्र-पंथी पुरोहित भी किसी ईरानी को खुले रूप में नवयोत संस्कार देने से बचते हैं। इसी संदर्भ में, हालिया आंदोलन में खुली इस्लाम विरोधी अभिव्यक्तियों का महत्त्व समझा जाना चाहिए।

प्रवासी ईरानी अपनी सभ्यता की पुरानी भाषा अवेस्तां, जिसमें जरथुस्त्र-पंथ की शिक्षाएँ हैं, पर शोध, अध्ययन करते हैं। सतकर्म का आग्रह उसकी एक केंद्रीय शिक्षा है। जरथुस्त्र ने तीन चीजों पर बल दिया था—अच्छे विचार, अच्छे शब्द और अच्छे कर्म। अग्नि को जरथुस्त्र-पंथी पवित्र और ज्ञान का दैवी प्रकाश मानते हैं। रोचक बात है कि ईरान में चालू आधिकारिक इतिहास कुछ वैसे ही पढ़ाया जाता है, जो भारत में अपनी भूमिका के बारे में अंग्रेज पढ़ाते थे कि अरब मुस्लिमों ने फारस को जरथुस्त्रवादियों

की बर्बरता से मुक्त कर 'सभ्य' बनाया!

सन् 1979 के बाद खुमैनी क्रांति ने ईरान में हर क्षेत्र में इस्लामी कानूनों को सख्ती लागू किया। खुमैनी ने पहले ही लिखा था किए 'जरथुस्त्र-पंथी लोग हीन, अग्नि-पूजक हैं।... यदि फारस के मंदिर की यह धूल की आग नहीं बुझाई गई तो यह फैल जाएगी और लोगों को (जरथुस्त्र) पंथ में निमंत्रित करने लगेगी।' लिहाजा, खुमैनी के सत्तासीन होने के बाद जरथुस्त्र-पंथ पर भारी चोट की गई। जरथुस्त्र-पंथी लोगों को दंडित, प्रताड़ित किया गया। कुछ मारे गए, कइयों को जेल हुई और उनकी नौकरियाँ चली गईं। उन्हें बड़े सरकारी, सैनिक पदों पर रखना प्रतिबंधित कर दिया गया। सामान्य अपराधों के लिए मुसलमानों की तुलना में उन्हें मिलनेवाली सजाएँ बढ़ा दी गईं। वे अपने धार्मिक प्रकाशन सीमित संख्या में ही छाप सकते थे। तेहरान के जरथुस्त्र मंदिर में जरथुस्त्र के चित्र हटाकर खुमैनी की तस्वीर लगा दी गईं। आदि।

पर इन्हीं कड़ाइयों ने अनेक ईरानियों में अपनी प्राचीन जरथुस्त्र-सभ्यता के प्रति नए सिरे से कौतूहल भी जगाया। इस्लाम छोड़कर गोपनीय रूप से पुनरांतरण भी होते रहे। जो लोग ईरान से बाहर भागे उन में भी एक पुनर्जागरण चलता रहा। क्योंकि, जब विदेशी सहपाठी, अध्यापक उनसे फारसी सभ्यता, जरथुस्त्र-दर्शन और इस्लाम-पूर्व ईरान के बारे में पूछते तो प्रवासी ईरानियों को आश्चर्य और संकोच भी होता कि अपने ही इतिहास के बारे में उन्हें कुछ नहीं मालूम है! धीरे-धीरे उन्हें अपनी दो पहचान, ईरानी और मुस्लिम, के बीच एक फाँक भी महसूस हुई।

इस प्रसंग में, कुछ जरथुस्त्र-पंथी लोग इंटरनेट को चमत्कारी वरदान मानते हैं। इस से ईरानियों के बीच अपने इतिहास के प्रति नई उत्सुकता और ललक बढ़ी। इस ने बौद्धिक, साहित्यिक प्रतिबंधों को लगभग नाकारा बना दिया है। 'पर्शियन रेनेशाँ फाउंडेशन' जैसे संगठन ईरानी नवजागरण के प्रति उत्सुकता रखने वालों को तरह-तरह की रोचक सामग्रियाँ उपलब्ध कराते हैं। ऐसे ईरानियों की संख्या लाखों में बताई जाती है जो महसूस करते हैं कि चाहे वे मुस्लिम समझे जाते रहे, पर उन्होंने कभी सोच-विचार कर इस्लामी मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया था। अब वे नए सिरे से जरथुस्त्र दर्शन को स्वयं जानना-परखना चाहते हैं। ताकि अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत को स्वयं तुलनात्मक रूप से समझ सकें।

जरथुस्त्र-पंथ की पवित्र पुस्तक गाथा में जरथुस्त्र द्वारा रचित सत्रह गीत हैं, जो किसी मतवाद की बजाय संतुलित और शान्तिपूर्ण जीवन का दर्शन है। किसी जबरिया थोपे गए मतवाद के सामने वह आज भी अत्यंत उपयोगी और आकर्षक प्रतीत होता है। खुले मस्तिष्क के किसी ईरानी युवक को यह अपने देश की गौरवपूर्ण विरासत लग सकती है। इस की बजाए मुस्लिम कहलाने में उन में कोई अपनी, ईरानी विशिष्ट पहचान का कोई तत्त्व नहीं मिलता।

यह सब नई ईरानी युवा पीढ़ी के चिंतनशील लोगों में एक जटिल अंतर्द्वंद्व पैदा

करता है। पर धुँधले रूप में वे ईरान का भविष्य एक बहुधर्मी, उदार समाज के रूप ही देख रहे हैं जहाँ वैचारिक, सांस्कृतिक, मजहबी दमन या एकाधिकार नहीं रहेगा। विशेषकर, जहाँ जरथुस्त्र-पंथ का सम्मानजनक स्थान होगा, क्योंकि वह विशिष्ट ईरानी चीज है! अतः जिसे ईरान में ही दमित-प्रताड़ित रखना तर्कहीन प्रतीत होता है।

कुछ ईरानी तो यहाँ तक महसूस करते हैं कि जैसे यहूदियों का अपना देश इजराइल है, उसी तरह जरथुस्त्र-पंथियों की अपनी भूमि ईरान ही है। संभवतः इसी संकेत से डरकर, ईरान के इस्लामी नेता इजराइल को दुनिया के नक्शे से मिटा देने की कसमें खाते हैं! वरना उन्हें डर है, कि देर-सवेर पुनः जरथुस्त्र-पंथ ईरान को अपना केंद्र बना लेगा और इस्लामी एकाधिकार जाता रहेगा। न केवल ईरान, बल्कि पास-पड़ोस के अन्य मुस्लिम देशों में भी जरथुस्त्र-पंथ के प्रति आकर्षण बढ़ सकता है। आखिर, स्वयं अयातुल्ला खुमैनी ने यह आशंका व्यक्त की थी।

यह आशंका निराधार न थी, इसका सबसे बड़ा प्रमाण खुमैनी की इस्लामी क्रांति के दस साल बाद स्वयं एक ईरानी राष्ट्रपति के विस्तृत भाषण में मिलता है।

ईरान के राष्ट्रपति सैयद मुहम्मद खातमी ने अपने सार्वजनिक भाषणों में भी खुला संकेत दिया था कि इस्लाम कोई सर्वकालिक विचारधारा, सभ्यता या व्यवस्था नहीं है। वे सन् 1982 से 1992 तक ईरान के संस्कृति मंत्री और 1997 से 2005 तक वहाँ के राष्ट्रपति रहे थे। सन् 2000 में अपने एक भाषण में उन्होंने प्रश्न उठाया, ''क्या इस्लामी सभ्यता कभी एक बार उदित होकर कुछ सदी पहले अस्त नहीं हुई? क्या किसी सभ्यता के अवसान का यह अर्थ नहीं होता कि अब हम इसकी शिक्षाओं के आधार पर अपने विचार तथा कर्म नहीं गढ़ सकते? क्या यह नियम हमारे इतिहास पर लागू नहीं होता? क्या इस्लामी सभ्यता के उदय और अस्त का मतलब यह नहीं था कि इस्लामी सभ्यता का आधार बनने वाला इस्लाम धर्म का युग जा चुका।''

ध्यान दें, इस्लामी ईरान गणतंत्र के राष्ट्रपति पद से ऐसे प्रश्न उठाना ही वहाँ की सामाजिक, वैचारिक स्थिति और वहाँ के सामाजिक-बौद्धिक वर्ग में चलने वाले विवादी चिंतन की पर्याप्त झलक दे देता है! यह सब खुमैनी की इस्लामी क्रांति के बीस वर्ष बाद कहा गया। अर्थात्, इस कथन में उस खुमैनी-क्रांति की व्यर्थता स्वीकार करने की भी पूरी झलक है कि उस क्रांति ने कठोर इस्लामी तानाशाही और अंतहीन मजहबी प्रचार के बावजूद वस्तुतः कुछ हासिल नहीं किया, न आम इरानियों को इस्लाम के प्रति निश्शंक बनाया।

उसी भाषण में आगे राष्ट्रपति खातमी कहते हैं, 'यह प्रश्न हमारी क्रांति को मथ रहा है। यदि हम ने उस पर पूरे संयम, संतुलन तथा वस्तुनिष्ठ होकर विचार नहीं किया, यदि हमें इस प्रश्न का कोई ठोस उत्तर नहीं मिला तो हमारी क्रांति को अपरिहार्य रूप से बड़े खतरों तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।''

इसके बाद सभ्यता और धर्म के अंतर पर अपने विचार रखते हुए, खातमी

कहते हैं, ''यदि इस्लामी सभ्यता का सूरज डूब गया और ऐसा बड़ी-बड़ी उपलब्धियों के बावजूद हुआ तो भी इतना कहा जा सकता है कि धर्म के प्रति एक काल-विशेष के अनुकूल पड़नेवाले दृष्टिकोण का अंत हुआ—स्वयं धर्म का अंत नहीं हुआ।'' फिर वे एक बड़ी गंभीर, तत्त्वतः इस्लाम-विरुद्ध बात कहते हैं, ''हम विशेष देश-काल के अनुकूल तैयार धार्मिक शिक्षाओं को स्वयं धर्म का प्रत्यय मान बैठने की भूल करते हैं।'' इसके बाद खातमी पुनः नई सभ्यताओं के बनने की चर्चा करते हैं। फिर यह जोड़ते हैं, ''इस प्रकार, पुरानी इस्लामी-सभ्यता का तो अवसान हो गया तो धर्म की जड़ें गहरी हैं और यह नई सभ्यताओं को जन्म दे सकता है भले ही धर्म की कोई विशेष व्याख्या जो अतीत में इस्लामी सभ्यता की भावभूमि रही—अब अनुपयोगी हो चली हो।'' अपने भाषण में वे मानवता से प्रेम और मानवीय स्वतंत्रता की जरूरत भी बताते हैं।

राष्ट्रपति खातमी की इन बातों पर ध्यान दें—ये ऐसी बातें हैं जो कोई भी हिन्दू, बौद्ध या यूरोपीय सेक्यूलर विद्वान भी खुशी-खुशी स्वीकार करेगा। ठीक इसीलिए, जिन बातों को कोई इस्लामी आलिम, उलेमा कतई मंजूर नहीं करेगा। यानी, न केवल राष्ट्रपति खातमी ऐकांतिक इस्लाम की कोई अनुशंसा नहीं कर रहे, बल्कि वे प्रकारांतर से साफ मानते हैं कि अब नई सभ्यता की तैयारी का समय है; तथा पुरानी इस्लामी मान्यताओं को तिलांजलि देनी पड़ेगी, क्योंकि वे अनुपयोगी हो चुकी हैं। उस खास इस्लामी दृष्टिकोण का अंत हुआ। यह सर्वोच्च ईरानी नेता के बेलाग, सार्वजनिक, विचार थे! यह भारत में तमाम मुसलमानों के लिए विशेषकर विचारणीय है।

उक्त तमाम बातें बिलकुल साफ-साफ दर्शाती हैं कि ईरानी उच्च और बौद्धिक वर्ग किन प्रश्नों से जूझ रहा है। वह इस्लामी कायदे-कानूनों, रिवाजों को न तो खुदाई मानता है, न सार्वभौमिक, न सार्वकालिक। नोट करें, गंभीरतम बातें रखते हुए खातमी ने एक बार भी न तो कुरान, न प्रोफेट को याद किया। न किसी बात के लिए उन की अनुशंसा, उदाहरण, उद्धरण ढूँढ़ने की जरूरत महसूस की।

बल्कि राष्ट्रपति खातमी ने मूल इस्लामी शिक्षाओं को केवल तात्कालिक समाज के लिए उपयुक्त कहकर उसे स्पष्टतः मनुष्य निर्मित, न कि अल्लाह-प्रदत्त माना। इन सभी बातों का अर्थ यही है कि खातमी मूल इस्लामी किताब, प्रोफेट, उनके बनाए नियम आदि के प्रति आदर रखने के बावजूद आज की समस्याओं के लिए उनमें कोई समाधान, या मार्ग नहीं देखते। यह स्पष्टतः इस्लाम को अतीत हो गई चीज मानने का ही दूसरा तरीका है।

निस्संदेह, राष्ट्रपति खातमी ईरानी लोगों के बीच कोई अपवाद न रहे होंगे। न वे केवल अपना निजी मत दे रहे थे। क्योंकि हमें मालूम है उनकी ऐसी उक्तियों के विरुद्ध वहाँ कोई हंगामा नहीं हुआ था। यह सब कहने के पाँच वर्ष बाद तक वे मजे से राष्ट्रपति बने रहे थे। अर्थात्, उनके जैसे सोचने-समझने वाले वहाँ बड़ी संख्या में

हैं और उच्च-वर्ग में भी हैं। वरना, ऐसे स्वतंत्र चिंतक को ईरान का राष्ट्रपति कैसे बनाते?

इस पृष्ठभूमि में ही हाल के ईरानी आंदोलन में इस्लाम-विरोधी अभिव्यक्तियों को ठीक-ठीक समझा जा सकता है। अनेक प्रबुद्ध इरानियों को लगता है कि धीरे-धीरे ईरान में अपनी सांस्कृतिक चेतना का विकास वर्तमान इस्लामी राज को यदि खत्म नहीं, तो काफी-कुछ परिवर्तित कर देगा। अपनी प्राचीन, समृद्ध, ऐतिहासिक विरासत के प्रति अधिकाधिक जागरूकता और ईरानी अस्मिता की भावना में वृद्धि इसका मार्ग प्रशस्त करेगी। आम मुसलमानों के बीच शिक्षा, विमर्श और ज्ञान-वृद्धि ही इस92

का साधन है। यही उनकी रणनीति भी है। सीखने, समझने, बताने और अपने विचारों को फैलाने की यह प्रक्रिया इंटरनेट के माध्यम से बढ़ रही है। शोधकर्ताओं के अनुसार, अभी कम से कम एक लाख ऐसे ईरानी मुस्लिम हैं जो औपचारिक रूप से मुस्लिम दर्ज होते हुए भी जरथुस्त्र की शिक्षाओं का उपयोग करते हैं। ऐसे तो और भी बड़ी संख्या में हैं जो इस्लाम के तमाम दावों पर कतई विश्वास नहीं रखते।

इस प्रकार, सभी संकेतों से लगता है कि ईरानी लोगों में मजहबी दबाव से स्वतंत्रता पाने की माँग बढ़ने वाली है। साथ ही, प्राचीन फारस के जरथुस्त्र-दर्शन के प्रति उनकी उत्सुकता और जागरूकता भी उसी अनुपात में निरंतर बढ़ेगी। हमारे लिए रोचक तथ्य यह भी कि जरथुस्त्र-दर्शन अनेक हिन्दू मान्यताओं और वैदिक विचारों से मिलता-जुलता है।

बहरहाल, ईरान में बढ़ती जागरूकता के फलस्वरूप अंततः इस्लाम-पूर्व की ईरानी चेतना का इस्लामोत्तर ईरान की भावना से आ मिलने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। अर्थात्, भविष्य में एक ऐसे ईरान का विकास, जहाँ सभी धर्मों के समानता से रहने का सहज वातावरण बने। यह भी ध्यान देने की बात है कि सऊदी अरब के नए शासक प्रिंस सलमान ने सऊदी अरब के लिए भी कुछ ऐसे ही लक्ष्य की बात की है। शायद 'जन्नत की हकीकत' पूरे मुस्लिम विश्व पर खुलने वाली है!

कलातीर्थ देवगढ़ - यात्रा का आनंद

भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता*

बचपन से ही मुझमें यात्रा के प्रति सहज लगाव रहा है। अपने देश के अधिकांश हिस्सों की बड़ी ही भक्ति और रुचि से मैंने यात्रा की है। अनुभव ऐसा है कि अधिकांश यात्राएँ आकस्मिक और ईश्वर की इच्छा से ही संपादित हुई हैं। इसी क्रम में कलातीर्थ देवगढ़ की मनोरम यात्रा का यह रोमांचक प्रसंग है।

अखिल भारतीय साहित्य परिषद् के चतुर्दश त्रिदिवसीय राष्ट्रीय अधिवेशन, झाँसी (10-13 जन. 2014 ई.) में सम्मिलित होते समय ओरछा के अतिरिक्त किसी अन्य निकटवर्ती दर्शनीय ऐतिहासिक स्थल की जानकारी नहीं थी। अतएव समापन-सत्र के पश्चात् ओरछा के महल, मंदिर एवं किला देखकर वापस गुड़गाँव लौट आया था। पुनश्च मध्य भारत हिंदी साहित्य सभा द्वारा ग्वालियर में आयोजित राष्ट्रीय लेखक सम्मेलन (1-2 मार्च, 2014) में सहभागिता हेतु निमंत्रण मिला। एतदर्थ, मैं द्रोणाचार्य महाविद्यालय, पुस्तकालय, गुड़गाँव में पुस्तकें कंसल्ट करने जाने लगा। संयोग से वहाँ पुरानी पुस्तकें बेची जा रही थीं। उस सुअवसर पर वहाँ की प्राध्यापिका डॉ. मीनाक्षी के पास वृंदावन वर्मा लिखित शिकार की पुस्तक 'दबे पाँव' देखकर मैं खिल उठा। उनसे अनुरोधपूर्वक पहले पढ़कर वापस करने की शर्त पर मैंने वह पुस्तक ले ली। अनायास इसके प्रथम पृष्ठ पर दृष्टि जाते ही मैं ठमक गया।

कुछ समय हुआ। काशी से रायकृष्णदास और चिरगाँव से श्री मैथिलीशरण गुप्त साथ-साथ झाँसी आए। उनको देवगढ़ की मूर्तिकला देखनी थी और वृंदावन लाल वर्मा जी को दिखलानी थी। देवगढ़ पहुँचने के लिए झाँसी-बंबई लाइन पर जाखलौन स्टेशन पर वे सवेरे उतरे। वहाँ से लगभग सात मील का जंगली-पहाड़ी मार्ग बैलगाड़ी से तय किया। छकड़े के धचकों और धनकों को उन लोगों ने अपनी सरस

* स्थायी पता : भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता, ग्रा. पो. मटियारी, जि.-सुपौल (बिहार), पिन. 854339, वर्तमान पता : के-73, फर्स्ट फ्लोर, न्यू महावीर नगर, जनकपुरी पूर्व मेट्रो स्टेशन के समीप, नई दिल्ली-110018

बातों और हँसी में दबा लिया और यात्रा आनंद से कटा। वर्मा जी इससे पहले दो बार देवगढ़ हो आए थे। सरकार देवगढ़ जैसे अप्रतिम पुरातात्त्विक स्थल को अपनी देखरेख में लेना चाहती थी। जैन संप्रदाय देना नहीं चाहता था। क्योंकि, देवगढ़ के किले में प्राचीन जैन मंदिर थे – जिनके प्रबंध की ओर घोर उपेक्षा थी। व्यवस्था कम। वर्मा जी जैन समिति के वकील थे। उन्हें मंदिर-मूर्तियों की अवस्था और व्यवस्था के लिए वहाँ जाना पड़ता था। साथ ही शिकार में भी अनन्य रुचि के कारण वे झाँसी और ललितपुर जिले के बीहड़ वनों की खाक छान चुके थे। अतएव भयावह वनस्थली में स्थापित इस कलातीर्थ देवगढ़ दुर्ग के स्थापत्य की उन्हें अच्छी जानकारी थी। इस बार भी यात्रा पर उन्हें राष्ट्रीय ख्याति के महान् साहित्यकारों तथा कलामर्मज्ञ को यह कलातीर्थ दिखलाने का गौरव प्राप्त हुआ था।

उन्होंने सर्वप्रथम उन महानुभावों को देवगढ़ के किले के नीचे का विष्णु मंदिर दिखलाया। उन दिनों (1920 ई.) पुरातत्त्व विभाग ने उसको अपने अधिकार में नहीं लिया था। मंदिर की एक बगल के शिलाखंड पर रामचरित के दृश्य उभरे पड़े थे। प्रदक्षिणापथ के दूसरे पाषाणखंड पर शेषनाग की शैय्या पर लेटे हुए विष्णु की मंद-मंद मुस्कान मन को हर रही थी। लक्ष्मी और कुछ देवताओं का भी कलात्मक उभार मनमोहक था। कहीं यशोदा माता बालकृष्ण को दूध पिला रही थीं। भक्ति और वात्सल्यमय दृश्यों को देखकर सभी श्रद्धा और विस्मय के अलौकिक आनंद सागर में डूब गए। देखते-देखते सबकी आँखें भले थक गई हों, मन नहीं थक रहा था। मंदिर और मूर्तियों के खंडहरों के चारों ओर घनघोर जंगल और सुनसान वातावरण विद्यमान था। कुछ दूरी पर जंगली जानवरों की पुकारें, पत्तों की खरमरी, पवन की सनसनाहट, विहग-वृंद के कलरव और हरीतिमा का सम्मोहन किसी स्वप्नलोक के सुंदर सोपान प्रतीत हो रहे थे। कलामर्मज्ञ रामकृष्ण दास जी का मंतव्य था–''विष्णु की नाक के बिल्कुल अग्रभाग को किसी मूर्तिभंजक ने टाँकी से छीला है। शायद वह समग्र मूर्ति को खंडित करना चाहता था। परंतु, जान पड़ता है – उसके हाथ, हथौड़ी और टाँकी, सब कुंठित हो गए हों। संभवतः क्रूरता और बर्बरता के ऊपर विष्णु के मुखारविंद की स्मित हास ने कोई मोहिनी डाल दी हो।'' अब पुरातत्त्व विभाग के संरक्षण में मूर्तियाँ यथावत रख दी गई हैं। चारों तरफ अहाता बना दिया गया है और चौकीदार की पहरेदारी है। खंडहर को साफ-सुथरा करके प्रांगण को सुंदर बनाया गया है। एक ओर ऊँची पहाड़ी पर हरे-भरे पेड़ों में उलझा हुआ है किला। उससे झाँकता हुआ दूसरी ओर शांत सौम्य मंदिरों का समूह। मध्य में विराजित शांतिनाथ के मंदिर के समीप की कलात्मक जैन मूर्तियाँ। और, अंत में नाहर घाटी के सौंदर्य का अवगाहन। इनके अवलोकन में सब इतने रम गए कि अँधेरी रात और विकट-बीहड़ मार्ग की चिंता भी भूल गए।

जब रात हुई तभी सब लोग वहाँ से टले। बैलगाड़ी धीरे-धीरे टक-टक जा रही

थी कि एकाएक बैल रुक गए और बगलें झाँकने लगे। तेंदुओं ने रास्ता रोक रखा था। तब गाड़ीवान की बुद्धि का सहारा लेकर बबुआनी छड़ियों को जोर-शोर से पटक-पटककर और हल्ला-गुल्ला करते हुए किसी प्रकार सब लोग जाखलौन लौट सके थे। भगवान भरोसे और गाड़ीवान की सूझ-बूझ तथा साहस के कारण जान बची थी। हाँ, इस घटना से वर्मा जी को एक शिक्षा जरूर मिली। तोप-तमंचों के मुकाबले के लिए अकबर इलाहाबादी ने अखबार निकालने की सलाह दी थी। परंतु, तेंदुओं का मुकाबला तो बबुआनी छड़ियों से भगवान भरोसे ही संभव थी! अतएव भविष्य के लिए वर्मा जी ने दो नाली बंदूक खरीद ली। इस भयंकर रोमांचकारी घटना के ऊपर भारी पड़ रही थी – विष्णु की मूर्ति की बारीक मुस्कान एवं शांतिनाथ की शांत मुद्रा। शिकार की कथाओं के अंतर्गत यह प्रथम संस्मरणात्मक और रोमांचक घटना मेरे जिज्ञासु मन को झकझोर गई। मैंने निश्चय किया कि इस बार ग्वालियर से झाँसी लौटकर देवगढ़ की यात्रा अवश्य करनी है। इस यात्रा को संपन्न करना मेरे लिए मानो चुनौती थी। क्योंकि, इस यात्रा में मुझे इतिहास, कला, पुरातत्त्व, प्राकृतिक सुषमा तथा गिरिवन – सौंदर्य के एकबारगी रसास्वादन का सुयोग मिला था। इस दृष्टि से मैंने मध्य भारत हिंदी साहित्य सभा, ग्वालियर के साहित्यकार बंधुओं से संपर्क करके देवगढ़ के लिए मार्गदर्शन का अनुरोध किया। परंतु, उनसे कोई उत्साहप्रद जानकारी नहीं मिली। तब निश्चय किया कि ग्वालियर के अधिवेशन स्थल से ही मित्रों का दल बनाकर इस यात्रा को संपन्न करूँगा। सम्मेलन की समाप्ति के पश्चात् 3 मार्च को झाँसी पहुँचकर 4 मार्च को कलातीर्थ देवगढ़-दर्शन करने की योजना बनी। तदनुरूप ईश्वर की अनन्य अनुकंपा हुई। झाँसी पहुँचकर संघ कार्यालय में देवगढ़ की यात्रा का निर्देशन प्राप्त करने को अत्यधिक व्यग्र था। तभी वहाँ के बंधुओं ने मेरी साहित्यिक पिपासा की तृप्ति हेतु डॉ. रवींद्र शुक्ल जी का नाम बताया।

डॉ. शुक्ल जी का नाम सुनते ही मेरी बाँछें खिल गईं। वे उत्तर-प्रदेश के पूर्व शिक्षामंत्री और समर्पित साहित्य-प्रेमी हैं। पिछले तीन साहित्यिक आयोजनों में उनकी प्रबंधपटुता, संगठन कुशलता, विनम्रता तथा वाकपटुता का मैं कायल था। इस दृष्टि से सर्वप्रथम 7-8 सितंबर, 2013 को हरिद्वार (उत्तराखंड) में अखिल भारतीय साहित्य परिषद् की दो दिवसीय चिंतन बैठक में अपनी विलक्षण प्रतिभा का परचम फहराते हुए उन्होंने बेहद प्रभावित किया था। तभी आश्वस्त होकर मैंने उस बैठक में परिषद् का चौदहवाँ त्रैवार्षिक राष्ट्रीय अधिवेशन 10-12 जनवरी, 2014 को वीरांगना लक्ष्मीबाई की कर्मभूमि झाँसी में करने का सुझाव दिया था। वहाँ उनके संयोजकत्व में परिषद् का अधिवेशन सफलता के चरमशीर्ष को प्राप्त कर सका, उसे आज कहने में गौरव का अनुभव होता है। इसके बाद मध्य भारत हिंदी साहित्य सभा के दो दिवसीय राष्ट्रीय लेखक सम्मेलन में भी आपने अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रमों में से कुछ समय निकालकर ग्वालियर के कवि सम्मेलन की अध्यक्षता करके सबको प्रेरित किया था।

झाँसी में मेरा नाम सुनते ही उन्होंने अपने सुपुत्र चि. निशांत को मेरे पास भेज दिया। आते ही निशांत ने अपना परिचय देते हुए मेरे सामान पर कब्जा किया और अपने पिताजी का हुक्म फरमा दिया—'आपको उनके साथ ही ठहरना है।' तब तो मेरी चिंता जाती रही। विधाता का अंतर से अनुकंपित हो गया। शुक्ल जी के सौहार्द और स्नेहिल सान्निध्य का क्या कहना! उनके घर पर भी एक गोष्ठी-सी हो गई। उनकी धर्मपत्नी सौ. डॉ. माधुरी जी गृहविज्ञान में ही निपुण नहीं, स्वयं उच्च कोटि की विदुषी हैं। 'बच्चन जी की काव्यधारा' पर शोधकार्य किया है।

रात को भोजन की मेज पर ही 4 मार्च के प्रातः झाँसी रेलवे स्टेशन से ललितपुर के लिए कुशीनगर एक्स. पकड़ने की योजना बन गई। कलातीर्थ देवगढ़ उत्तर-प्रदेश के ललितपुर जिला मुख्यालय एवं मध्य रेलवे के भोपाल-झाँसी खंड के ललितपुर स्टेशन से लगभग 33 कि.मी. दूर बेतवा नदी के किनारे स्थित है। यह स्थान जाखलौन रेलवे स्टेशन से 13 कि.मी. और झाँसी रेलवे स्टेशन से लगभग 125 कि.मी. की दूरी पर है।

नियत योजनानुसार मैं चि. निशांत के साथ 4 मार्च के प्रातः 6 बजे इस यात्रा के लिए तत्पर हुआ। तभी कुछ जैन बंधुगण डॉ. शुक्ल जी से मिलने पधारे। डॉ. शुक्ल जी ने उनसे मेरा परिचय कराया तथा मार्गदर्शन का अनुरोध किया। उन बंधुओं ने मुरारीलाल जैन (एडवोकेट), महामंत्री, श्री देवगढ़ मैनेजिंग दिगंबर जैन कमेटी, ललितपुर के नाम से एक पत्र दिया। इससे मुझे बड़ा ढाढस मिला। उन बंधुओं ने अपनी संक्षिप्त जानकारी प्रदान करते हुए देवगढ़ स्थित विपुल पुरा संपदा, मंदिर, मूर्तियाँ, बेतवा नदी, घाटियाँ एवं वन्यजंतु-बिहार आदि से सुशोभित इस पुण्य क्षेत्र को न केवल तीर्थस्थल, बल्कि एक सुरम्य पर्यटन स्थल के रूप में भी बखान किया। साथ ही मुझे भी इस महत्त्वपूर्ण कलाकेंद्र पर लिखकर प्रचार-प्रसार के लिए प्रोत्साहित किया।

तदुपरांत निशांत जी ने मुझे झाँसी जंक्शन ले जाकर कुशीनगर एक्स. पकड़ा दिया। प्रातःकालीन शीतल समीर का आनंद लेता हुआ मैंने लगभग 100 कि.मी. की यात्रा दो घंटे में पूरी की। स्टेशन से ही रिक्शा द्वारा श्री देवगढ़ मैनेजिंग दिगंबर जैन कमिटी, निकट घंटाघर, ललितपुर स्थित जैन धर्मशाला से संपर्क साधा। वहाँ श्री मुरारीलाल जैन के माध्यम से श्री अनिल कुमार जैन ने जाखलौन तक जाने के लिए बस पकड़ने का सुझाव दिया। परंतु, दो घंटे प्रतीक्षा करने के बाद भी जब कोई बस नहीं मिली तो स्वतंत्र रूप से टेम्पू से मैंने यात्रा संपन्न की।

भारतीय संस्कृति एवं कला के इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थल की यात्रा हेतु मैं कितना लालायित था! आखिर, मध्य भारत के ललितपुर रेलवे स्टेशन से 33 कि. मी. स्थित बेतवा नदी के किनारे सघन वनकुंजों में लगभग 300 फीट ऊँची पहाड़ी पर स्थित किला और उसके भीतर अवस्थित वैष्णव-जैन देवालयों एवं देवमूर्तियों से सुसज्जित भारत के इस अद्वितीय कलास्थल का दर्शन कर मैंने स्वयं को धन्य समझा।

ऊपर पहुँचकर अचानक टेंपोवाला ब्रेक लगाता है। तब हमारा ध्यान इस

पुरास्थल के प्रधान द्वार पर अटक जाता है। मानो, भव्य स्वप्नलोक के स्वर्गिक सौंदर्य ने किसी विलक्षण कल्पनालोक का दर्शन कराया हो! विश्वकर्मा की अनुपम सृष्टि का साकार विग्रह। द्वारपाल की पर्यटक-पुस्तिका पर अपनी उपस्थिति दर्ज कर झट से अंदर प्रविष्ट होता हूँ। सर्वप्रथम दो कतारों से खड़े कलात्मक मान स्तंभ मन को मोह लेते हैं। उन पर सूक्ष्म रूप से उकेरे गए शिलालेखों और मूर्तिखंडों में अद्‌भुत जादू भरा पड़ा है। कलागत चमत्कार देखकर न जाने किस भावलोक में खो जाता हूँ।

''देवगढ़ का गा रहे, अब गान मौन खड़े हुए,
आज यद्यपि दीखते पुण्य क्षेत्र उजड़े हुए।
भव्यतम यह क्षेत्र होगा जिस समय फूला फला,
कौन अब वर्णन करे उस स्वर्ग शोभा का भला?
मोहता होगा कभी यह स्वर्ग के अमरेंद्र को,
धन्य होंगे दर्श इसके देव-किन्नर इंद्र को।
देखिए, यह शिल्प-सुंदर आज भी पड़े हुए,
दीखते आभूषणों में मणि समान जड़े हुए।''

मानस्तंभों की चित्ताकर्षक कारीगरी, जिनमें अनेकानेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। स्तंभ के निचले भाग में यक्षिणी। ऊपर भगवान महावीर। किसी रथिका में पारसनाथ, किसी में माँ का दूध पीता बालक। वात्सल्य का प्रत्यक्ष विग्रह :

''देखिए मानस्तंभों की कौशल कला,
मिल सकेगी आज इसकी क्या कहीं उपमा भला?''

सामने दिखता है श्री दिगंबर जैन सहस्रकूट चैत्यालय। इसकी दीवालों पर दिगंबर जैन की सहस्रों मूर्तियाँ हैं। मध्य में पद्मासन में महावीर स्वामी विराजमान हैं, अत्यंत सुंदर चमकदार बज्रलेप में। चारों ओर चौबीस तीर्थंकर हैं। यहाँ के मूर्ति समूह में सर्वाधिक मूर्तियाँ जैन धर्म-दर्शन की मूल अवधारणा के अनुरूप हैं। अतएव उनमें गहन साधना की मूर्त अभिव्यक्ति पाते हैं। साथ ही समाज की भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति यक्षियों की मूर्तियों के पूजन द्वारा की गई है। तभी तो कलासमीक्षकों ने यहाँ आध्यात्मिक एवं लौकिक जगत का संतुलन अन्य स्थलों की अपेक्षा अधिक माना है।

भारतीय पुरातत्त्व विभाग तथा प्रो. मारुति नंदन तिवारी ने यहाँ के उपलब्ध इकत्तीस जैन मंदिरों का कालक्रम निर्धारित करते हुए कलागत मूल्यांकन भी किया है। तदनुसार मंदिर संख्या 11 के विशेष महत्त्व को दर्शाते हुए इसकी तुलना खजुराहो के कंदरिया महादेव एवं लक्ष्मण मंदिरों से की है। मंदिर के गर्भगृह का प्रवेश-द्वार सादा है, किंतु, बाहर के दोनों तलों के प्रवेश-द्वार अलंकृत हैं, जिन पर शृंगार और काम-भाव वाली दंपति की आकृतियाँ बनी हैं। विभिन्न आकर्षक चेष्टाओं में अप्सराएँ, त्रिभंग में खड़ी मकरवाहिनी गंगा (दाएँ), और कूर्मवाहिनी यमुना (बाएँ) की सुंदर धार्मिक

प्रदर्शित हैं। प्रथम तल के द्वार पर मध्य में ध्यानस्थ सात सर्पफणों के छत्र से युक्त पार्श्वनाथ तथा छोटों पर त्रिभंग में खड़ी करंडमुकुट से शोभित चतुर्भुजा चक्रेश्वरी यक्षी एवं वीणा-पुस्तक धारिणी सरस्वती की आकृतियाँ हैं। मानस्तंभ एवं 21 अभिलेख हैं।

मंदिर संख्या 12 शांतिनाथ को समर्पित है। आठवीं-नवीं शताब्दी का यह मंदिर स्थापत्य, शिल्प एवं प्रतिमा लक्षण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मंदिर है। इसमें शांतिनाथ की 18 फीट ऊँची कायोत्सर्ग-प्रतिमा प्रतिष्ठित है। पार्श्व में द्विभुज नवग्रहों की स्थानक आकृतियाँ हैं। सूर्य किरीट-मुकुटधारी और दोनों हाथों में सनालपद्म है। सोम से शनि तक के अन्य छह ग्रहों को त्रिभंग में जटा-मुकुटधारी एवं बाएँ हाथ में जलपात्र लिये तथा दाएँ हाथ से अभयमुद्रा व्यक्त करते दिखाया गया है। ऊर्ध्वकाम राहु को तर्पण की मुद्रा में और केतु को अर्धसर्पाकार एवं नमस्कार मुद्रा में दिखाया गया है। पद्मधारिणी चतुर्भुज लक्ष्मी और उनके ऊपर गरुड़वाहना चतुर्भुज चक्रेश्वरी तथा दाहिने छोर पर वीणा-पुस्तक धारिणी चतुर्भुजी सरस्वती एवं बालक लिये अंबिका की आकृतियाँ द्रष्टव्य हैं। ऊपर की पंक्तियों में चौबीस जिनों की ध्यानस्थ मूर्तियाँ एवं सबसे ऊपर सोलह मांगलिक स्वप्नों का सुंदर संयोजन हुआ है। निचले भाग में गंगा-यमुना की आकृतियाँ उकेरी गई हैं। द्वारशाखाओं पर लताओं, शार्दूल, नाग, वादकवृन्द एवं उपाध्याय विराजमान हैं। निकटवर्ती अन्य मंदिरों के ऊपरी भाग या तो विनष्ट हो चुके हैं अथवा सादगी से पूर्ण हैं। जबकि, मूर्तियाँ कलात्मक हैं। किले के तमाम मंदिरों को मैं अकेला देखता रहा। उस निर्जन में मूर्तियों की एकांत शांत मुद्रा सुनसान उत्पन्न कर रही थी। परंतु, उस सुनसान में होकर जब मूर्तियों के अर्धस्मित मुस्कान की ओर झाँकता था तो उस स्मित झाँकी में दिव्य जीवन दिखलाई पड़ता था।

घूमता-घामता मैं किले के दक्षिण-पूर्व में एक छोर पर पहुँचा। उस स्थान का नाम 'नाहरघाटी' है। वहाँ खड़े होकर बेतवा नदी का अल्हड़ वेग देखता रहा। वह पहाड़ी से सटकर बहती है। नदी-तल के पत्थरों, से टकराती जलराशियाँ और वृक्षसमूह बड़े मनोहारी लग रहे थे। नदी तल में एक छोटे टापू पर सीधे खड़े कतारबद्ध वृक्ष किसी उपवन से दीख रहे थे। पहाड़ों, जंगलों और नदी की करामत्तों की दृश्यावलियाँ शरीर को थकने नहीं दे रही थीं। इस घाटी में कई शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ एवं अभिलेख हैं। इनमें छठी-सातवीं शताब्दी की मातृका आकृतियाँ ज्वलंत उदाहरण हैं। प्रारंभ में वीरभद्र और उसके बाद अक्षमालाधारिणी चतुर्मुखी ब्राह्मी, गणपति को गोद में लिए सिंहवाहिनी शिवा, गरुड़ासीना कौमारी, गजवाहना इन्द्राणी तथा चामुण्डा की भव्य आकृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त रथिकाओं में विष्णु, सूर्य, महिषासुरमर्दिनी तथा शिव की मनोज्ञ मूर्तियाँ द्रष्टव्य हैं। गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में सात पंक्तियों का एक संस्कृत लेख भी है। दक्षिण-पश्चिम में स्थित 'राजघाटी' में प्रागैतिहासिक अभिलेख तथा मूर्तियाँ चट्टानों पर उत्कीर्ण हैं।

पर्वत को काटकर एक अभिलेख युक्त गुफा भी दर्शनीय है। सिद्धघाटी या गुफा

राजघाटी के पार्श्व में स्थित है, जो साधकों की साधना स्थली रही होगी। इस गुफा में गुप्तलिपि और शंख-लिपि में कई अभिलेख हैं। गुफा की दीवारों पर रंग के प्रमाण मिलते हैं, जो प्रागैतिहासिक शैलचित्रों के अंश प्रतीत होते हैं। गुफा की बाह्यभित्ति पर महिषासुरमर्दिनी की एक भावपूर्ण प्रतिमा है। निकट में पत्थर की एक बावड़ी दर्शनीय है। इस भयावह स्थान में आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं होती है। लौटकर किले के प्रवेश-द्वार पर पहुँच जाता हूँ, जहाँ प्रतीक्षारत टेंपोवाला अब ऊँघ रहा है।

टेंपोवाला हमें पानी पीने हेतु नीचे जैन धर्मशाला पहुँचाता है। इस भव्य धर्मशाला में यात्रियों के निवास-भोजन की उत्तम व्यवस्था है। उसके प्रबंधक भी बड़े सहयोगी सिद्ध हुए। चाय-पानी के पश्चात् उन्होंने सर्वप्रथम वहाँ का संग्रहालय दिखलाया, जो पुरातात्त्विक वैभव का आगार है। वहाँ का मानस्तंभ तो अपूर्व है। उसकी अप्रतिम कलाकृतियों ने मुझे मोह लिया।

वस्तुतः जैन मंदिरों के समक्ष अलंकृत स्तंभों के रूप में मानस्तंभों के निर्माण की परंपरा हमें प्राचीन काल से मिलती है। इसके उदाहरण कुषाण-गुप्तकाल से ही मथुरा आदि अनेक स्थलों से मिलते हैं। इनके निर्माण का उद्देश्य तीनों लोकों में जिनों की श्रेष्ठता को अभिव्यक्त करना है। इन पंक्तियों के लेखक ने एलोरा के जैन मंदिर में नवमी शताब्दी के मानस्तंभों को देखा है। दक्षिण भारत के जैन ही नहीं, वैदिक-पौराणिक परंपरा के मंदिरों में भी मानस्तंभों का निर्माण विशेष लोकप्रिय था। प्रो. मारुतिनंदन तिवारी के कथनानुसार उत्तर भारत में लगभग 10वीं से 14वीं शती ई. के मध्य के सर्वाधिक मानस्तंभ देवगढ़ में ही उपलब्ध हैं, जिनकी अनुमानित संख्या 19 है। इनका स्वरूप प्रायः एक समान है। भूमि के ऊपर एक के ऊपर एक निर्मित तीन पीठिकाओं (अधिष्ठानों) पर स्तंभदंड स्थित रहता है, जिसके शीर्ष पर एक 'सर्वतोभद्रिका' स्थापित होती है। पीठिकाएँ कभी-कभी अलंकृत होती हैं और कभी अनलंकृत। चारों ओर अर्धस्तंभयुक्त रथिकाओं में चतुष्कोण सर्वतोभद्रिका उत्कीर्ण की गई है और सबके ऊपर एक शिखराकृति। हाँ, स्तंभ-दंड कहीं वृत्ताकार या चतुष्कोण या अष्टकोण है।

देवगढ़ स्थित जैन धर्मशाला के प्रांगण में स्थापित मानस्तंभ का निर्माण चंदेल शैली में हुआ है। इसके शीर्ष भाग में जिनों की ध्यानस्थ मूर्तियाँ बनी हैं। सर्वतोभद्र मूर्ति में तीन ओर ध्यानस्थ या कायोत्सर्ग मूर्तियाँ के साथ एक ओर पुस्तकधारी उपाध्याय या उपदेश की मुद्रा में जैनाचार्य का दिखाया जाना देवगढ़ के शिल्प का एक नया प्रयोग था। देवगढ़ जैन धर्मशाला के मैनेजर की सूचना के अनुसार मैंने समीपवर्ती दशावतार मंदिर का अवलोकन किया। किले के ठीक नीचे पुरातन प्राचीर से आवेष्टित यह गुप्तकालीन विष्णु मंदिर है। मंदिर के पाषाणखंडों को पुरातत्त्व विभाग ने अब अपने अधिकार में लेकर व्यवस्थित रूप दिया है। खंडहरों के जीर्ण-शीर्ण पत्थरों में रामचरित के दृश्य उभरे पड़े हैं। मंदिर की एक बगल में सटे एक शिलाखंड पर फणों

के छत्र से शोभित शेषनाग की शैय्या पर लेटे हुए विष्णु, उनके पाँव को दबाती लक्ष्मी और विभिन्न देवताओं के मनोहर उभार द्रष्टव्य हैं। उनमें चतुर्भुज नरसिंह की नमस्कार-मुद्रा में उपस्थिति महनीय है। विष्णु को समर्पित इस शिखरयुक्त पंचायतन मंदिर की द्वार-शाखाएँ पत्रवल्लरियों से अलंकृत हैं। इसके ऊपरी भाग पर दाईं ओर मकरवाहिनी गंगा तथा बाईं ओर कूर्मवाहिनी यमुना रूपायित हैं। गंगा-यमुना का संवाहन उकेरन मुझे पूर्वोत्तर असम के तेजपुर के समीप के गाँव में एक मंदिर-द्वार में देखने को मिला था, यह कला के माध्यम से भारतीय अखंडता को दर्शाता है। ऊपर वर्णित शेषशायी विष्णु फलक में ऊपर क्रमशः दाएँ से बाएँ, मयूरारूढ़ कार्तिकेय, गजारूढ़ इंद्र, कमलासीन ब्रह्मा (यहाँ कमलनाल विष्णु के नाभि से नहीं निकल रहा है), वृषभ रूप उमा-महेश्वर और मालाधारी विद्याधरों की लघु आकृतियाँ स्तवन करती मुद्रा में प्रस्तुत हैं। 'नर-नारायण तपस्या फलक' में बदरिकाश्रम का मनोहारी दृश्य अंकित है। कतिपय शिलाखंडों में वन्य पशुओं – सिंह और मृग को साथ-साथ निश्चिंत भाव से सोए दिखलाकर शिल्पी ने तपोभूमि के सात्त्विक वातावरण को उपस्थित कर दिया है। उत्तर की तीसरी रथिक में 'गजेंद्र मोक्ष' का विषय उत्कीर्ण है। इसमें दर्शाया गया है कि ऊपर दिव्य आकाश लोक से गरुड़ासीन विष्णु तेजी से भक्त गज की पुकार पर उसकी सहायता के लिए नीचे की ओर उतर रहे हैं। इनमें चार विद्याधरों में से मध्य की दो आकृतियाँ एक मुकुट को थामे हुए हैं। इस फलक में सात सर्पफणों वाले मानवदेहधारी नागदेव को सपत्नीक हाथ जोड़कर विष्णु से क्षमायाचना करते हुए दिखाया गया है।

देवगढ़ दुर्ग में दक्षिण-पश्चिम कोने पर खंडित रूप में विद्यमान 'वराहमंदिर' दशावतार-मंदिर का ही परवर्ती रूपांतरण है, लेकिन, इसे प्रत्यक्ष न देख सका। इसी प्रकार यहाँ के ग्राम में भी गुप्तकालीन एवं परवर्ती कालीन चतुर्मुख शिवलिंग तथा अन्य कलात्मक मूर्तियाँ प्रतिस्थापित हैं, जिन्हें देखने के लिए अगली यात्रा की लालसा है। इस दिव्य कलातीर्थ को प्रणाम करता हुआ भारी मन से प्रस्थान करता हूँ।

''वस्तुतः जैन-वैष्णव दर्शन का अमर गान हो तुम!
धर्मवैभव का अक्षय वरदान हो तुम!
तुम भले हो खंडित फिर भी दृश्य तो अभिराम हैं!
पूर्वजों की कीर्ति को सविनय सहस्र प्रणाम हैं।''

महिषासुर विमर्श की इतिहास-दृष्टि : शम्बुक का द्राविड़ प्राणायाम

अम्बिकादत्त शर्मा*
विश्वनाथ मिश्र**

आर.जी. कॉलिंगवुड (1946) ने उचित ही कहा है कि हम शायद एक ऐसे युग की दहलीज पर खड़े हैं, जिसमें दुनिया के लिए इतिहास उतना ही महत्त्वपूर्ण होगा जितना कि 1600 और 1900 के बीच प्राकृतिक विज्ञान था। वुड के कथन की सार्थकता को पूरे शीत युद्ध के काल में कम्यूनिज्म के भूत (इस शब्द का प्रयोग मार्क्स एवं एंगेल्स ने कम्यूनिस्ट पार्टी की घोषणा पत्र के प्रथम पंक्ति में किया है) ने साकार कर दिखाया। किन्तु 1990 के पश्चात् जब कम्यूनिज्म का भूत स्वयं भूत बन गया तब वुड के कथन की सार्थकता और प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। विगत दशकों में इतिहास की कब्र खोदने की जो प्रवृत्ति बढ़ी है वह मार्क्सवादी-सादृश्यता के बावजूद उससे दो अर्थों में भिन्न है। प्रथम, मार्क्सवादी-इतिहास विश्लेषण एक युग के आत्मविनाश के पश्चात् नवारम्भ हेतु सामूहिक पहचान, उत्पादन प्रणाली और तदनुरूप उत्पादन संबंध की प्रस्थापना करता है। जबकि, आज के मार्क्सवादी-सादृश्यता वाले उपागम इतिहास के कब्र को खोदकर और दबी वस्तुओं को बिखेरकर अपने विश्लेषण को कहीं से भी प्रारम्भ कर लेते हैं और कहीं पर भी स्थगित कर देते हैं। आज के ऐसे इतिहास विश्लेषकों को फूकोवादी (कहीं से भी आरम्भ कर लेने के कारण डिस्कर्सिव फार्मेशन का भ्रम पाल लेने के कारण) या देरिदावादी (कहीं पर भी स्थगित कर लेने के कारण डेफर का भ्रम पाल लेने के कारण) भी नहीं कहा जा सकता है। द्वितीय, मार्क्सवादी इतिहास विश्लेषण की अनेक कमियों के बावजूद इसकी एक विशिष्टता है कि यह पर्याप्त सीमा तक संघर्षरत घटकों के सम्मिलित योगदान को स्वीकार करता

*दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 470003 म.प्र.
**राजनीतिशास्त्र विभाग, आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी, 221002, उ.प्र.

है। जबकि, आज के मार्क्सवादी-सादृश्यता वाले इतिहास लेखन में सेक्टेरियन प्रवृत्ति पाई जाती है। इस सेक्टेरियन प्रवृत्ति के कारण आज के मार्क्सवादी सादृश्यता वाले इतिहास लेखन एकत्ववादी दिखते हैं, किन्तु इनका एकत्ववाद प्रत्येक अवस्था में जिस इतिहास-दर्शन में चरितार्थ होता है, वह न तो मार्क्स की तरह आर्थिक निर्धारणवाद होता है न ही इनका एकत्ववाद प्लेटो के 'आइडिया' ''हीगल के गाइस्थ शंकर के ब्रह्म'' बुद्ध के तथागत गर्भ या अरविन्द के सच्चिदानन्द की तरह विराट होता है। बल्कि, इनका वह एकत्ववाद कभी जाति, कभी जनजाति, कभी धर्म, कभी अर्थ, कभी शोषण और अन्याय तो कभी कुछ और भी होता है। इस दृष्टि से सनसनी उत्पन्न करने वाले कहानी, नाटक, प्रहसन आदि आदि की तो रचना की जा सकती है किन्तु इतिहास के किसी समानान्तर विमर्श को नहीं खड़ा किया जा सकता है। इतिहास की कब्र खोदकर एक समानान्तर विमर्श खड़ा करना एक दुरूह कार्य है। इसके लिए कम से कम तीन तत्त्वों की आवश्यकता होती है। प्रथम, पूर्व पक्ष से असहमति के लिए ठोस ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता की अपेक्षा। इस अपेक्षा को पूर्ण किए बिना जब इतिहास का विमर्श तैयार किया जाता है तब विमर्शकर्ता का सम्पूर्ण प्रयास बन्दर की भाँति कभी इस शाखा तो कभी उस शाखा पर उछल-कूद (एक ज्ञानमीमांसा को छोड़कर दूसरे को पकड़ना फिर तीसरे को और कहीं भी स्थिर न होना) करने जैसा रह जाता है। द्वितीय, पर्याप्त भौतिक और साहित्यिक साक्ष्य, साक्ष्यों का अंतर-सांस्कृतिक, अन्तरा-सांस्कृतिक एवं समकालिक तथा अवान्तर-कालिक तुलनात्मक पर्यवेक्षण इतिहास, विमर्श को सुदृढ़ नींव प्रदान करता है। तृतीय, इतिहास के कथ्य एवं तथ्य को उसके परिप्रेक्ष्य में देखने की एवं अन्वेषण करने की क्षमता ताकि, कथ्य एवं तथ्य को वर्तमान के जाति-लिंग, स्थान एवं परिप्रेक्ष्य के इतिहासबोध से जोड़कर देखने की दुष्प्रवृत्ति का परिहार किया जा सके।

परन्तु, हेरोडोटस एवं थूसीडाइडिस (ग्रीक इतिहास लेखक एवं इस विषय के जनक) से लेकर आज के समसामायिक उपाश्रित (सबॉल्टर्न) इतिहास लेखकों तक में अपने अन्वेषण के लिए चयनित कथ्य एवं तथ्य के प्रति एक ओर विशेष प्रकार का आग्रह तो दूसरी ओर एक विशेष प्रकार का दुराग्रह पाया जाता है। उदाहरण के लिए हेरोडोटस की रचनाओं के केन्द्र में जो यूनानी एवं पर्सियन संघर्ष है, उसमें पर्सियन 'बर्बर' है। थूसीडाइडिस हिप्पोक्रेटिक चिकित्साशास्त्र के सिद्धान्तों को राजनीति पर लागू करके उसकी तार्किक व्याख्या कर लेने का विश्वास पाल लेते हैं। पोलिबियस इतिहास के प्रति सावयवी दृष्टि रखने के कारण निर्धारणवादी व्याख्याओं को आमंत्रित कर लेते हैं। एरियन की साम्राज्य निष्ठा सामंतों के प्रति आलोचनात्मक विवेक का परिचय देती है। कनफ्यूशियस पूवर्जों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने वाले आख्यानों पर विशेष जोर देते हैं। पॉलस ओरिसियस के आख्यान गैर-ईसाई लोगों के प्रति घोर असहिष्णुता से प्रेरित हैं। इसी तरह ऑगस्टीन के इतिहास विमर्श में पेगन निष्ठा के

प्रश्नों से ईसाईयत निष्ठा को बचाने की कोशिश की गई है।

प्राचीन ग्रीक एवं यूरोपीय मध्यकाल के बाद पुनर्जागरण के प्रभाव से जिस इतिहास-विमर्श का आरम्भ हुआ वह भी पूर्व इतिहास लेखन की ही तरह कुछ कथ्यों एवं तथ्यों के प्रति आग्रही एवं कुछ कथ्यों एवं तथ्यों के प्रति दुराग्रही था। उदाहरण के लिए प्रथम आधुनिक इतिहासकार के रूप में मान्यताप्राप्त ब्रूनी जहाँ अपने मानवतावादी रुझान के लिए प्रसिद्ध हैं वहीं फ्लोरेंस के प्रति गहरा लगाव उनके लेखन को प्रभावित करता है। मैकियावेली एक मानवद्वेषी-देशभक्त हैं और उनके इतिहास, विमर्श पर कूटनीतिक इतिहास लेखन का प्रभाव है। बोदिन के इतिहास, विमर्श में भौगोलिक कारकों का प्रभाव अधिक है और गर्म मुल्कों के प्रति दुराग्रही है। बेकन ने इतिहास विमर्श को मनुष्य के स्मृति क्षेत्र तक सीमित कर दिया और डेकार्ट ने इतिहास के प्रति ऐसे संशयवादी दृष्टिकोण को जन्म दिया जिसकी परिणति इतिहास के उपयोगितावादी मन्थन में हुई। बेकन, विशेषकर डेकार्ट, ने इतिहास की जो अवनति की उससे निकालकर इतिहास विमर्श को पुनः प्रतिष्ठित करने का कार्य विको ने किया। किन्तु उनके लेखन, में इतिहास विमर्श को सामान्य-लक्षणवादी प्रवृत्तियों की खोज के प्रयास में सामयिक लक्षण (पीरियाडिकल कैरेक्टरिस्टिक) अनेक कथ्यों एवं तथ्यों को धुँधला कर देती है।

पाश्चात्य ज्ञानोदय काल के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मांटेस्क्यू भी बोंदा की तरह मनुष्य के चरित्र पर जलवायु के प्रभाव को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाते हैं। मांटेस्क्यू की इतिहास दृष्टि विधिक इतिहास की दृष्टि है। वे प्रोटेस्टेंट मत के पोषक भी हैं। वाल्टेयर की इतिहास दृष्टि क्रान्ति-धर्मी है जिसमें निराशावाद का बोलबाला है। इस निराशा से बचाव के सूत्र को वे 'इतिहास से बाहर के विवेक' में खोजते हैं। गिब्बन के इतिहास-वृत्त में सभी संभाव्यता तक निम्न लोग बहिष्कृत हैं। उसका बाइजैंटाईन साम्राज्य के प्रति पक्षपात एवं ईसाईयत के प्रति द्वेष भी जगजाहिर है। पुनर्जागरण एवं ज्ञानोदय के प्रतिरोध स्वरूप रूसो ने जिस स्वच्छन्दतावाद का शंखनाद किया उसके इतिहास लेखन को हर्डर ने विकसित किया। हर्डर के इतिहास वृत्तान्त में एक अन्तःसंघर्ष है जो एक ओर तर्क-बुद्धिवाद का विरोधी एवं दूसरी ओर 'डार्विन के प्रकृतिवाद' का अनुचर होने के कारण उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार हीगल का इतिहास विषयक द्वन्दात्मक दृष्टि राजनीतिक इतिहास की गाथा को केन्द्र में रखकर इतिहास के अन्य उपादानों के साथ 'अन्याय के तर्क' द्वारा प्रतिष्ठित हुई है। हीगल की ही तरह कार्ल मार्क्स ने समतावादी समाज की स्थापना के लक्ष्य को केन्द्र में रखकर इतिहास की 'आर्थिक नियतिवादी व्याख्या' करते हुए इतिहास के विभिन्न उपादानों के प्रति 'अन्याय का तर्क' उपस्थित किया है। इतिहास के जिन उपादानों के प्रति मार्क्स का नजरिया न्यायपूर्ण नहीं है उसके बीज मार्क्स में कोम्त के प्रत्यक्षवाद और डार्विन के विकासवाद के गठजोड़ से उत्पन्न हुआ है।

राष्ट्रवाद के उभार ने भी पश्चिम में इतिहास लेखन को प्रभावित किया। इस श्रेणी के इतिहास लेखकों में थियरे, मिशेले, कार्लाइल, ड्राइसेन, ट्रीस्के, नेबुर जैसे इतिहासवेत्ता आते हैं। इन सभी इतिहासकारों के बारे में विल डूराँ ने टिप्पणी की है कि ऐसे इतिहासकारों को राष्ट्रवाद की खोज ने भ्रष्ट कर दिया। इनके लिए अपना देश ईश्वर का देश था और उसके बाहर का संसार खलनायकों एवं जंगली लोगों का था। ऐसे इतिहासकार राजनीतिज्ञों के प्रेस एजेन्ट भर थे (विल डूंरा 1953 : 206)। यूरोप के ऐसे राष्ट्रवादी इतिहास लेखन ने औपनिवेशिक विस्तार के लिए 'ओरिएण्टलिज्म' के विमर्श को जन्म दिया जिसमें पश्चिम विवेक का और पूर्व इमोशन का, पश्चिम पौरुष का और पूर्व स्त्रैण गुणों का, पश्चिम विज्ञान का और पूर्व आस्था का तथा पश्चिम विकास का और पूर्व पतन का सूचक बना दिया गया। (एडवर्ड सईद : 1993) कीथ, सेनार्ट, हट्टन, मैकाले, फ्रांसिस बर्नियर जैसे प्राच्यविदों ने भारत को ओरिएण्ट एवं ऑक्सिडेन्ट के भेद पर ही समझने-समझाने का कार्य किया। इन ओरिएण्टलिस्ट किमियागरों के लेखन की प्रतिक्रिया में जिन भारतीय एवं अन्य शोषित उपनिवेशों में इतिहासविदों ने अपने एवं विश्व के इतिहास को जाँचने परखने में योगदान दिया उनके लेखन में भी निन्दा की भड़ास जैसी प्रवृत्ति दिखाई देती है।

इस तरह ग्रीक काल से आधुनिक काल तक इतिहास के अनेक विमर्श उत्पन्न हुए और इतिहास में मिल गए। परन्तु, उत्तर-आधुनिकता ने इतिहास के अंत को ही विमर्श का विषय बना डाला। इतिहास के अंत की घोषणा की दृष्टि इतिहास को अविच्छिन्नता में देखने की प्रवृत्ति के विरोध में हुई है। इतिहास के इस उत्तर-आधुनिक विमर्श के दो मुख्य स्तम्भ हैं फूको एवं देरिदा। दोनों ने ही इतिहास को इतिहासकारों के चंगुल से निकालने के तर्कों एवं पद्धतियों का विकास किया है। इनका मानना है कि इतिहास को जब हम इतिहासकारों के नजरिए से देखते हैं तब हम इतिहास को जानने की बजाय इतिहासकार के दिमाग से इतिहास को जानने का प्रयत्न करते हैं। जबकि, भूतकाल को जानने के लिए इतिहासकार के दिमाग में जाने की बजाय उन लोगों के दिमाग में जाने की जरूरत होती है जिनके इतिहास को हमें जानना है। प्रस्थापना की दृष्टि से फूको एवं देरिदा का तर्क पूर्णतया न्यायसंगत एवं विवेकपूर्ण है। किन्तु, इस प्रस्थापना के दावों को साकार करने के लिए वे जिस पुरातात्त्विक पद्धति शास्त्र, विखंडन, आदि का सहारा लेते हैं और शाश्वत सत्य तथा अविच्छिन्न ऐतिहासिक विकास को खारिज करते हुए 'तरल सत्य' को अपनाने का सलाह देते हैं उसमें तीन महत्त्वपूर्ण दोष दिखाए जा सकते हैं। प्रथम, यह मिथकीय आख्यानों के इतिहासबोध और इतिहासबोध के मिथकीय आख्यान को एक ही धरातल पर खड़ा कर देता है। द्वितीय, यह सत्य एवं मत को एक ही पृष्ठभूमि में ढकेल देता है। तृतीय, इस दृष्टि से इतिहास का होना या न होना निरर्थक हो जाता है और जो शेष रह जाता है वह है वर्तमान का शक्ति-सन्दर्भ आधारित गतिकी। वर्तमान के इसी शक्ति सन्दर्भ

आधारित गतिकी से आज नारीवादी-इतिहास, विमर्श एवं उपाश्रित-इतिहास विमर्श का जन्म हआ है। किन्तु, इन विमर्शों के द्वारा भी जब सार्वभौमिक स्थापनाओं का शिलान्यास किया जाता है तब इतिहास के कब्र से मात्र विद्वेष, संघर्ष, शोषण, हिंसा एवं अन्याय के पुरावशेष ही निकल पाते हैं और प्रेम, सहयोग, शान्ति, मैत्री, अहिंसा जैसे पुरावशेष दफ्न होकर रह जाते हैं।

उपयुर्क्त समीक्षात्मक अन्वेषण के पश्चात् इस निष्पत्ति तक पहुँचा जा सकता है कि विश्व के किसी भी इतिहासकार ने किसी भी इतिहास के साथ न्याय नहीं किया है। फिर भी, भारत के इतिहास लेखन के सन्दर्भ में जब यह कहा जाता है कि भारतीय इतिहास की अधिकांश प्राचीन कृतियों में इतिहासबोध का अभाव है। (विंसेन्ट स्मिथ 1990 : iii) तब यह पश्चिम का जातीय अहंकार या औपनिवेशिक मान्यता नहीं तो और क्या है? वास्तविकता जबकि, यह है कि पाश्चात्य इतिहास लेखन के समस्त दोष भारतीय इतिहास लेखन में भी हैं और तदनुरूप पाश्चात्य इतिहास लेखन के अनेक गुण भी भारतीय इतिहास लेखन में हैं। भारत की सनातन परम्परा ने समानान्तर इतिहाबोध रखने वाले समूहों (सम्प्रदायों) को भी यह स्वतंत्रता दिया है कि प्रस्थान त्रयी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर भाष्य लिखकर नवीन सम्प्रदाय एवं नूतन इतिहासबोध की दुनिया बसा लीजिए। भारत के इतिहास को भारत के जमीन पर समझने के लिए संरचनावादी एवं उत्तर-संरचनावादी मान्यता कारगर हो सकती है, किन्तु तब जब उन्हें भारत के इतिहासबोध से विश्लेषित किया जाए। इस दृष्टि से वी. एस. आप्टे ने महाभारत में उद्धृत इतिहास की एक मानक परिभाषा प्रस्तुत की है। वह यह कि–

धमार्थकाममोक्षानाम् उपदेशसमन्वितं।
पूर्ववृत्तम् कथायुक्तम् इतिहासं प्रचक्षते।।

वस्तुतः भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास लेखन में व्यक्ति, जाति, वंश, स्थान और समय महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। विभिन्न घटनाओं के मध्य कार्य-कारण संबंध की स्थापना भी इतिहास लेखन का उद्देश्य नहीं है बल्कि शान्ति, सुरक्षा एवं व्यवस्था की स्थापना उसका मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए युगों के अनुभव ने साहचर्य एवं तादात्म्य बोधकता के कुछ सूत्र प्रस्तावित किए और उनसे वर्णाश्रम धर्म एवं पुरुषार्थ व्यवस्था की नींव पड़ी। अतः वर्णाश्रधर्म एवं पुरुषार्थ की महत्ता को स्थापित करना भारत में इतिहास लेखन का उद्देश्य रहा है। वर्णाश्रमधर्म एवं पुरुषार्थ के रक्षार्थ संलग्न व्यक्ति, जाति, वंश और उनका स्थान एवं समय प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में बड़े फलक पर उजागर हुए हैं। जीवन के सारतत्त्व की खोज के प्रयासों ने प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में जगत् के नानात्व एवं आम लोगों के जीवन की आधि-व्याधि की उपेक्षा की है। प्राचीन सनातन परम्परा में इतिहास लेखन की जो प्रवृत्ति है उसमें सात आश्चर्यजनक विरोधाभास हैं। प्रथम ज्योतिषीय गणनाओं के

समय सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाई के प्रति जहाँ सनातन मतावलम्बी अत्यन्त सचेत हैं, वहीं ऐतिहासिक विवरणों में काल के फलक को वे युग और मन्वन्तर जैसा विस्तार दे देते हैं जिसमें अनेक पीढ़ी तो क्या अनेक सभ्यताओं का उत्थान एवं पतन हो जाता है। द्वितीय, भीषण युद्धों का चित्रण और उन्हीं युद्धों के बीच तत्त्वचिन्तन। इसी तरह निस्पृहता एवं त्याग की गाथाओं के मध्य वैभव विलास एवं ऐश्वर्य की कहानियाँ ऐसा आभास देती हैं जैसे कि इतिहासकार दो लोकों या अलग-अलग युगों का वृत्तान्त बता रहा है। तृतीय, लोकैषणा की प्रबल इच्छा के मध्य आत्मगोपन की पद्धति। चतुर्थ, देवत्व से बराबरी चाहने वाले मानवता (देवं भूत्व देवं यजेत) के उच्चादर्श के मध्य अधम जातीय विद्वेष एवं दुराग्रह। पंचम, जड़ात्मवाद से पूर्ण इतिवृत्तों के मध्य उच्च दार्शनिक तत्त्ववाद का वृत्तान्त। षष्ठ, बहुदेववाद की सम्पूर्ण शृंखलाओं की उपस्थिति के साथ एकत्ववाद के प्रति निष्ठा। सप्तम्, प्रचण्ड नियतिवाद के समानान्तर दृढ़ कर्मवाद।

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन अपने ऐसे ही विरोधाभासों के कारण आज भी इतिहास लेखन के सभी सम्प्रदायों के लिए एक स्वर्ग बना हुआ है। एक ऐसा स्वर्ग जिसमें किसी भी तरह के निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए मात्र कल्पना के घोड़े को दौड़ाने की जरूरत है। किन्तु, इन विरोधाभासों की तह तक जाने पर जहाँ विरोधाभासों के कारण स्पष्ट होने लगते हैं और जहाँ इतिहास को उन लोगों के नजरिये से देखा जाना सम्भव होता है जो स्वयं इतिहास के पात्र हैं, कल्पना के घोड़े को दौड़ाने से उत्पन्न होनेवाली सनसनी समाप्त हो जाती है। जब इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय इतिहास का अन्वेषण करना हो तब अन्वेषणकर्ता से पाँच तथ्यों के प्रति सचेत रहने की अपेक्षा होती है। प्रथम, प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में ऐसी अकादमिक ईमानदारी है जिसमें संस्कृति और संस्कृतियों के साथ-साथ विकृतियों को भी स्थान दिया गया है। इतना ही नहीं संस्कृतियों के उत्थानार्थ एवं विकृतियों के शमनार्थ लक्ष्यों को भी उद्घाटित किया गया है। अतः मात्र विकृतियों को लक्ष्य बनाकर प्राचीन भारतीय इतिहास का अन्वेषण, 'मैकियावेलियन वे ऑफ हिस्ट्री एनालिसिश' से अधिक कुछ हो नहीं सकता है। द्वितीय, पश्चिमी औद्योगिक सभ्यता का परिप्रेक्ष्य विहीन मानव की और अणुवादी समाज की अवधारणा के आधार पर जिस राजनीतिक-आर्थिकी का उदय हुआ है उसकी विश्वदृष्टि को प्राचीन भारतीय इतिहास में खोजना व्यर्थ है। प्रत्येक प्राचीन समाजों की भाँति प्राचीन भारतीय समाज एक सावयवी समाज है जिसमें अधिकांश अन्तर-वैयक्तिक एवं अन्तर-सामाजिक संबंध प्रत्यक्ष संबंध होते हैं। ऐसे समाजों में संबंधों के आदर्श एवं संबंधों के व्यवहार पक्ष के मध्य अन्तर आधुनिक समाजों की अपेक्षा अत्यन्त कम होते हैं। तृतीय, प्राचीन भारतीय समाज में और तदनुरूप प्राचीन भारतीय साहित्य में मैकियावेली, हॉब्स, लॉक, रूसो, बेन्थम आदि की भाँति मनुष्य को परिभाषित करने के लिए एक ही श्रेणी नहीं है। स्त्री और पुरुष दोनों

ही सत, रज और तम गुण के आधार पर वर्गीकृत किए गए हैं। उक्त वर्गीकरण का भी उत्तम मध्यम एवं निम्न श्रेणी में आन्तरिक वर्गीकरण किया गया है। चतुर्थ, प्राचीन भारतीय इतिहास के पात्र यूथ से जन और जन से जाति तथा जाति से राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में हैं। कोई भी यूथ रातों-रात पूरी तरह से जन में परिवर्तित नहीं होता और न ही कोई जन रातों-रात जाति या राष्ट्र में परिवर्तित होती है। इस परिवर्तन को अन्तर एवं अन्तरा सामुदायिक सहयोग और चुनौती दोनों मिलते हैं। इस सम्पूर्ण पटकथा को प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में पिरोया गया है। पंचम, आज की सभी सभ्य कही जानेवाली जातियाँ सुदूर अतीत में वन्य जातियाँ ही थीं। और जिन्होंने सम्मिलन, प्रतिरोध एवं परिमार्जन की प्रक्रिया में अपना विकास किया है।

भारतीय इतिहस दृष्टि के उपर्युक्त गुणसूत्रों की उपेक्षा करते हुए जब कोई अध्येता या अध्येताओं का वर्ग प्राचीन भारतीय इतिहास से उदाहरण लेकर लेखन कार्य करता है तब उसके लेखन से तार्किकता एवं प्रमाणिकता दोनों स्वाभाविक रूप से गायब हो जाते हैं। वस्तुतः कोई भी इतिहास लेखन इतना पूर्ण एवं समावेशी नहीं हो सकता है जो एक ही साथ महर्षि व्यास, पाणिनी, पोलिबियस, विको, मार्क्स एवं रणजीत गुहा द्वारा प्रदत्त साँचे में इतिहास को देख सके। यह सही है कि इतिहास को इतिहासकार के नजरिये से नहीं देखना चाहिए बल्कि इतिहास को उन पात्रों के निगाह से देखना चाहिए जो कि इसके पात्र हैं। किन्तु, क्या इस लक्ष्य का संधान इतिहास को लिंग, जाति, वंश, गोत्र, क्षेत्र, भाषा जैसे पृथक्-पृथक् संघटकों से विश्लेषित करके किया जा सकता? वास्तव में ऐसे प्रयास तो कसाई की तरह मृत पशु को टुकड़े-टुकड़े में बाँटने की तरह इतिहास पर विमर्श करना है। परन्तु, विगत वर्षों में प्राचीन भारतीय इतिहास पर इसी तरह के विमर्शों की एक सतत् शृंखला विकसित हुई है। इसके केन्द्र में पहले स्त्री, शूद्र, ब्राह्मण और बाद में असुर आ गए हैं। ऐसे विमर्शों की प्रामाणिकता एवं इसके अन्तर्विरोधों की पड़ताल के लिए इनमें से एक का समीक्षात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है। सम्प्रति यह इतिहास विमर्श 'महिषासुर विमर्श' के नाम से प्रचारित किया जा रहा है। इस विमर्श पर केन्द्रित संजय जोठे का आलेख (प्रतिमान, वर्ष 4, अंक 7, जन.-जून, 2016, पृ. 107 से 130) प्रकाशित करते हुए विद्वान् प्रधान सम्पादक प्रो. अभय कुमार दुबे ने उचित ही टिप्पणी लिखी है कि ''हमारे सार्वजनिक जीवन की सांस्कृतिक राजनीति में खलबली मचाने वाले महिषासुर-विमर्श के कारण हिन्दू धर्म की मिथकीय संरचना और उसपर आधारित समाजशास्त्र के लिए ये बेचैनी के दिन हैं। एक नए इतिहास की खोज की जा रही है और मिथकीय पनुःपाठ के प्रयास जारी हैं। ठीक उसी तरह जैसे कभी फुले, पेरियार और आम्बेडकर ने किया था। यह विमर्श विचारोत्तेजक भी है और चुनौतीपूर्ण भी। लेकिन, यह कितना प्रामाणिक है? क्या इसमें समाज की संरचनाओं को प्रभावित करने की ताकत है? क्या मिथकों के मुकाबले मिथक प्रस्तावित करके आज के जमाने में समाज और संस्कृति की नई

इबारत लिखी जा सकती है? प्रस्तुत आलेख के माध्यम से हम लोगों ने इतिहास बोध के मिथकीय आख्यान द्वारा एक नई इबारत गढ़ने के अन्तर्निहित भ्रान्तियों की जाँच पड़ताल करने का प्रयास किया है।

महिषासुर विमर्श : वैचारिक संरचना की उलझन—इस विमर्श के आठ आधारभूत तत्त्व हैं। प्रथम, असुरजाति भारतभूमि की एक प्राचीनतम जाति है। द्वितीय, सिन्धु सभ्यता का निर्माण करने वाले असुरजाति के ही लोग थे (कंगाली : 2011)। तृतीय, असुरों से गोण्ड एवं अहीर (अब यादव) का सीधा संबंध बनता है (प्रमोद रंजन : 2014)। चतुर्थ, संभुशेक असुरों का प्रसिद्ध नायक (या परम्परा) है और हिन्दुओं (आर्यों) ने (विशेषकर ब्राह्मणों ने) इसे शिव या शंकर के रूप में चालाकी से अपना लिया है। पंचम, आर्यों ने संभुशेक को पथभ्रष्ट करने के लिए पार्वती का प्रयोग किया जिसमें पार्वती ही संभुशेक से आसक्त हो गई। षष्ठ, दुर्गा ने छलपूर्वक महिषासुर का वध किया और आज भी दुर्गा के प्रति आक्रोश रखने वाले महिषासुर के वंशजों में इस गाथा की जनश्रुति शेष है। सप्तम्, गोण्डी पुनेम दर्शन असुरमत है और यह बुद्धमत से भी प्राचीन है तथा बुद्धमत से साम्य रखता है। असुरों के गोण्डी पुनेम मान्यता को विद्रूप करने के लिए आर्यों ने बृहस्पति का प्रयोग करके उनमें लोकायत मत का प्रचलन कर दिया। अष्टम्, असुर या गोण्डी पुनेम मत से हिन्दूमत की मीमांसा अपेक्षित है ताकि असुरों (समग्ररूप से बहिष्कृत समूहों) को उचित सम्मान दिलाया जा सके और उनके गौरवशाली इतिहास को पुनः प्रतिष्ठित किया जा सके।

महिषासुर विमर्श के उक्त आख्यान की समीक्षा के लिए इस आख्यान की विश्वदृष्टि एवं इतिहास-दृष्टि का विश्लेषण आवश्यक है। सबसे प्रामाणिक इतिहास लेखन के लिए इतिहास दृष्टि से विश्वदृष्टि का निर्माण प्राथमिक अपेक्षा होती है। जब भी किसी विश्वदृष्टि से इतिहासदृष्टि निर्माण किया जाता है तब इतिहास वास्तव में इतिहास न रहकर मिथकीय कहानी होकर रह जाता है। यह दोष सनातन परम्परा के इतिहास लेखन में भी है और आज के महिषासुर विमर्श में भी है। इस तथ्य को उत्तर आधुनिक दर्शन के जनक नीत्शे के द्वारा किए गए 'डायोनिसियन एथिक्स' और 'अपोलियाई एथिक्स' के भेद से भी समझा जा सकता है। (विश्वनाथ मिश्र, 2015) इसमें पहले को देवी सम्पदा और दूसरे को आसुरी सम्पदा से निर्मित एथिक्स कहा जा सकता है। इसी के गर्भ में पलकर मार्क्स एवं ग्राम्शी के सहारे महिषासुर विमर्श उत्पन्न हुआ है। यदि गोण्डी पुनेम दर्शन भारतभूमि का आद्य दर्शन एवं संस्कृति है तब यह नीत्शे की शब्दावली में—'डायोनिसियन एथिक्स' है और इसकी प्रतिक्रिया में जिस आर्य (हिन्दू) संस्कृति का उदय हुआ (हिन्दू शब्द की जगह लेखकद्वय 'सनातन' शब्द को तार्किक मानता है) वह 'अपोलियाई एथिक्स' का प्रतिनिधि है। कालान्तर में इसी 'अपोलियाई एथिक्स' ने डायोनिसियन एथिक्स को विस्थापित कर दिया। अब प्रश्न यह है कि महिषासुर विमर्श अपने डायोनिसियन एथिक्स को प्राप्त करना चाहता है या

उस अपोलियाई एथिक्स की प्रतिक्रिया में अपने को गढ़ना चाहता है जो कि स्वयं में विद्रूप है। महिषासुर विमर्श में आस्था के प्रश्न को और राजनीतिक आर्थिकी को एक ही में उलझा दिया गया है। इस उलझाव को तार्किक दिखाने के लिए (छिपा लेने के लिए) वे बौद्धमत के प्रति झुकाव प्रदर्शित करते हैं। भारतवर्ष में मार्क्सवादियों का एक समूह हमेशा से भारतभूमि की नैतिकता के अनुकूल मार्क्सवादी नैतिकता हेतु विवेक सम्मत ढाल खोजने के लिए बौद्धमत की शरण लेता रहा है। इस प्रयास में मार्क्सवाद एवं बौद्धमत के साथ सादृश्यता दिखाने के भी दृष्टान्त प्रस्तुत किए गए हैं (आम्बेडकर 2009 : 5-40)। किन्तु, ऐसे समूहों ने सदैव जिस मूल तथ्य की उपेक्षा की है या जिस प्रश्न उत्तर देने से वे बचने की कोशिश करते रहे हैं उस प्रश्न का उत्तर बौद्धमत को मार्क्स की अपेक्षा वेदान्त के समीप खड़ा कर देता है। वह तथ्य यह है कि व्यवस्था की स्थापना (समानता) के लिए चेतना का परिमार्जन आवश्यक है। चेतना के परिमार्जन से ही शोषणमुक्त एवं समानतायुक्त समाज की स्थापना हो सकती है। वर्तमान महिषासुर विमर्श में भी इस तथ्य की अनदेखी की गई है और वे अस्तित्वमूलक प्रश्नों का पश्चिमी परिपाटी की ही तरह अनुभवमूलक समाधान का प्रयास करते हैं। इस विमर्श को यदि कालजयी बनना है तब इसे भी अस्तित्वमूलक प्रश्नों का अस्तित्वमूलक समाधान एवं अनुभवमूलक प्रश्नों का अनुभवमूलक समाधान प्रस्तुत करना होगा। जहाँ तक इस विमर्श में रखे गए आस्था के पक्ष का प्रश्न है जिसका अपहरण आर्यों ने कर लिया है और अपना एक विमर्श खड़ा कर लिया है, उस विमर्श को ध्वस्त करने के लिए महिषासुर के पैरोकारों को प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर भाष्य लिखने एवं उस भाष्य के द्वारा अपने मत को गौरवान्वित करने की आवश्यकता है। अन्यथा वे आज की विश्वदृष्टि और आज की राजनीतिक आर्थिक से पुरातन संस्कृतियों के अतीत को विश्लेषित करने के आक्षेप से कभी मुक्त नहीं हो पाएँगे।

किन्तु, यह कार्य सरल नहीं है। यह इस कारण जटिल नहीं है कि गोण्डी पुनेम दर्शन में या इसके पैरोकारों में क्षमता नहीं है। बल्कि, यह इस कारण जटिल है कि असुर यदि गोण्ड एवं अहीर बन गए हैं तब गोण्ड ब्राह्मण भी बन गए हैं और श्रीलंका में विश्वेश्रवा के पुत्र रावण असुरों के अधिपति भी हैं जो कि ब्राह्मण हैं। वे शंकर के भी भक्त हैं और उनका पुत्र, पार्वती या दुर्गा के ही नामरूप देवी निकुम्भला का उपासक है। इसी तरह असुर पक्ष के पैरोकारों के लिए उन कारणों का भी तार्किक उत्तर देना आवश्यक है कि क्यों असुरों ने अपने समजातियों से भी लौह अभियान्त्रिकी को छिपाए रखा (प्रसन्न कुमार चौधरी : 2015) जबकि, अपेक्षित तो यह था कि वे यदि आर्यों के विरुद्ध संघर्षरत थे तब उन्हें अपने समजातियों को भी अभियान्त्रिकी में दक्ष करके अपने साथ खड़ा करना चाहिए था।

महिषासुर विमर्श : जाति-जनजाति सातत्य की उपेक्षा और आर्य-अनार्य मिथक

की भ्रान्ति पर विश्वास-महिषासुर विमर्श की तह में जाने और अतीत को विस्तृत फलक पर देखने से इस विमर्श की कपोल कल्पित तार्किकता के अंश सतह पर आ जाते हैं। भारत की आदिम कही जानेवाली जन-जातियों में और आधुनिक समझी जानेवाली जातियों में ऐसा सातत्य रहा है जिसने समाज जीवन एवं संस्कृति के क्षेत्र में दोनों को मात्र एक सूत्र में पिरोए ही नहीं रखा है बल्कि आदिम जातियों से ही आधुनिक जातियों के उद्‌भव का मार्ग प्रशस्त किया है। इस सातत्य को रेखांकित करनेवाले अनेक अध्ययन हुए हैं। यह एल.पी. विद्यार्थी, एस.सी. दूबे, जी.एस. घुर्ये आदि के अध्ययनों में स्पष्ट हो चुका है। एम.एन. श्रीनिवास के संस्कृतिकरण की अवधारणा से भी उसी वास्तव का निष्पादन होता है। वस्तुतः आदिम जातियों एवं सभ्य जातियों के द्विविभाजन (बायनेरी) का सूत्र ब्रिटिश शासन की देन है (एस.बी. सी. देवले 1992 : 50) जिसका उद्‌देश्य वन्य जातियों को बृहत्तर भारतीय समाज से समेकित होने से रोकना था। ताकि, उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन को कमजोर किया जा सके। यही कारण है कि प्रथम जनगणना के समय मुण्डा, संताल, बैगा आदि जिन्हें आज अनुसूचित जन-जाति कहा जाता है, जब इनके समूहों ने अपने को हिन्दू परिगणित किए जाने हेतु आवेदन किया तो इनके दावों को खारिज कर दिया गया। यह उस कड़ी को तोड़ने का मात्र एक प्रशासनिक प्रयास ही नहीं था जो सभ्य जातियों एवं वन्य जातियों को एक कड़ी के रूप में जोड़ती थी। बल्कि, इसके साथ-साथ ऐसे प्रयास भी हुए जिससे सभ्य जातियों एवं वन्य जातियों के मध्य विद्वेष उत्पन्न हुआ। इस विद्वेष को उत्पन्न करने में ईसाई मिशनरियों के योगदान को भी अनेक अध्ययनों में उजागर किया गया है। इन षड्‌यन्त्रकारी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप जन-जातियों का एक वर्ग तैयार हो गया जो विषमजातीय होते हुए भी एक लाभार्थी समूह के रूप में समजातीय कलेवर ग्रहण कर लिया। स्वतंत्रता के बाद नेहरू-एल्विन के मॉडल के रूप में उसी षड्‌यन्त्रकारी ब्रिटिश नीति का जाति-जनजाति समायोजन के लिए रूपान्तरण हो गया। फलतः प्रथम जनगणना के सौ वर्षों की अवधि के बाद आज हम उस स्थिति की परिकल्पना नहीं कर पाते हैं जो कि आदिम एवं ग्रामीण जातियों के बीच में रहती है। वन्य जातियाँ यदि वन्य जातियाँ ही रह गईं तब इसका कारण प्रत्येक परिस्थितियों में तथाकथित हिन्दू समाज का शोषणकारी बर्ताव ही नहीं रहा है। बल्कि, आधुनिकता की किमियागीरी उससे अधिक प्रभावशाली रही है। वन्य जातियों के आर्थिक हितों पर जो आघात हुआ है उसके लिए स्थानीय ग्रामीण समुदाय की अपेक्षा आधुनिकता एवं बाजारीकरण अधिक उत्तरदायी रहे हैं (विश्वनाथ मिश्र 2014 : 14-24)। बाजार और आधुनिकता के गर्भ से ही उस बीज का उदय होता है जहाँ वे असुर के असुर ही रह जाते हैं। साथ ही आधुनिकता और बाजार ही वह स्पेस उपलब्ध कराता है जहाँ असुर एवं महिषासुर की कहानी खरीदी और बेची जाती है। जिस तरह बाजार लाभ के तर्क पर संचालित होता है उसी तरह इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने के प्रयत्नों की भी एक

तर्क प्रणाली है। अतीत में और आज भी इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का दोषारोपण दक्षिणपंथी शक्तियों पर किया जाता था। किन्तु, साम्यवाद के अवसान और उत्तर-आधुनिक चिन्तन के आर्विभाव ने प्रगतिशील कहे जाने वाले तबकों को भी इतिहास के गढ़े मुर्दे उखाड़ने के उपक्रम से जोड़ दिया है। परन्तु, इन में से कोई भी तबका इतिहास की पर्तों को मनमाने तरीके से वहीं तक उधेड़ने का हिमायती होता है जहाँ तक उनके लाभार्थी समूहों का हित जुड़ा होता है। यद्यपि, इस प्रवृत्ति से प्रेरित इतिहास लेखन में भी वही दोष होते हैं जो महाविचारों से प्रेरित इतिहास लेखन से आ जाते हैं। यदि अतीत के तह तक ही जाना है फिर तो पूरी दुनिया ही विस्थापित, आक्रान्त और जड़विहीन है। क्योंकि, ज्ञात सत्यापनीय मान्यताओं के अनुसार तो हम मानवजाति के पूर्वज जिस कपि-मानव की संतान हैं वह अफ्रीकावासी थे। तो क्या इस तर्क के आधार पर हम सभी को अपने मूल देश और मूल स्वरूप में लौट जाना चाहिए? जाहिर है कि यह अतीत में झाँकने की प्रवृत्ति का अत्यन्त विस्तारवादी और आत्मविनाश मूलक तर्क है और कोई भी विचारशील अध्येता ऐसा नहीं करना चाहेगा। यदि ऐसा है, तब यही तर्क महिषासुर विमर्श के ऊपर भी लागू होना चाहिए। इस विमर्श ने जिस दुर्गा और पार्वती को असुरों के अधिपति को व्यामोहित कर शिव के रूप में उपस्थापित कर देने का आक्षेप लगाया है, यह वही दुर्गा हैं, जिन्होंने कोल राजाओं को विध्वंस कर देनेवाले (आज के सन्दर्भ में देखा जाए तो यह जन-जातीय राजा ही थे) आततातियों से कोलों को सुरक्षित किया था (कोला विध्वंशिनस्तदा दुर्गा सप्तशती, प्रथम अध्याय)। स्वयं महिषासुर के समर्थक विमर्शकारों ने वन देवी एवं ग्राम देवी के रूप में भी दुर्गा को दर्शाया है। ऐसा करके वे दुर्गा को वन्यजातियों के देवी के रूप में मान्यता दे ही देते हैं। क्योंकि, तत्कालीन अवस्था में अधिकांश गाँव या तो जन-जातीय गाँव थे या हिन्दू समाज के ऐसे गाँव थे जिनमें जीववाद, सरनावाद के बीज थे और आज भी हैं। वास्तविकता भी इसी के इर्द-गिर्द प्रतिस्थापित होती है। दुर्गा ही क्या समस्त सनातन देवी-देवता वन्य जातियों के जीवन स्तर से ही उद्‌भूत हुए हैं। वे कोई शहरी समाज में बस चुके सिद्धान्तकारों द्वारा विरचित नहीं किए गए हैं। जब वे रचे गए तब उनके रचनाकार वन्य जीवन से ऊपर के स्तर पर नहीं आये थे। जब देवी-देवताओं की रचना हो रही थी उसी समय ऐसे रचनाकारों से पत्थर फेक दूरी पर रहनेवाले समूह इसके उलट प्रतिरूपों की भी रचना नहीं कर रहे होंगे, ऐसा तो सम्भव नहीं है।

वास्तव में मानवशास्त्रीय प्राक्कल्पनाओं के अनुसार देवासुर संग्राम के कहानी की पृष्ठभूमि यहीं से शुरू होती है। अर्थात् यह विभिन्न वन्य जातियों के अन्तर्कलह और आस्था आधारित विभाजन का प्रतिफलन है। इस अन्तर्कलह और आस्था आधारित विभाजन का न तो सदैव एक रेखीय प्रतिफलन सम्भव था न ही विशाल सनातन साहित्य में इसका एक रेखीय संकलन हुआ है। कहीं शहद पीनेवाली दुर्गा, कहीं साग खानेवाली दुर्गा, कहीं ईख खानेवाली दुर्गा, कही महनभोग (झारखण्ड की

वन दुर्गाओं को चढ़ाने या जानेवाला हलवा) खानेवाली दुर्गा, कहीं मांस खानेवाली दुर्गा, कहीं बेल और उसके पत्तों को खानेवाली दुर्गा तो कहीं उड़हूल के फूल से शृंगार करनेवाली दुर्गा में आखिर ऐसा क्या है जो उन्हें वन्येतर साबित करता हो।

वस्तुतः यह तार्किक नहीं है कि पार्वती या दुर्गा कोई वन्येतर रचना हैं जो किसी अधिक विकसित आर्य जाति के द्वारा वन्यजातियों के शासन, प्रतिष्ठा और यहाँ तक कि सभ्यता को हड़प लेने की परिकल्पना के साथ अवतरित या रूपान्तरित होती हैं। यदि कोई आर्य जैसी जाति रही भी है और उनका स्थानीय निवासियों से संघर्ष हुआ है, तब तत्कालीन समय में आर्य भी वन्य जाति ही थे। यद्यपि आर्य आक्रमण के मिथक से पार्वती या दुर्गा को जोड़ने के लिए यह भी साबित करना आवश्यक है कि इस देवी का अस्तित्व भारत आने से पूर्व भी तथाकथित आर्य जातियों में रहा है, जो कि अब तक के अध्ययनों में साबित नहीं हो सका है। यदि सिन्धु सभ्यता के निर्माता महिषासुर के वंशज ही थे और उनका अधिपति संभुशेक ही महिषासुर हैं जो कि परमयोगी भी हैं तब क्या मात्र अधिपति के योगभ्रष्ट (विमोहित) हो जाने से सम्पूर्ण सभ्यता का विनाश या रूपान्तर सम्भव है। यदि ऐसा हुआ भी तो सदैव योगभ्रष्ट हो जानेवाले महिषासुर (महादेव) के विग्रह शहरी केन्द्रों में और पार्वती/दुर्गा के विग्रह पर्वतों/पहाड़ों एवं कन्दराओं में क्यों हैं? और क्यों योगभ्रष्ट होकर संभुशेक (महिषासुर) अपने अनुचरों (अर्थात् असुरों के एक समूह) के साथ आर्य कुटुम्ब में सम्मिलित होकर महादेव बन जाते हैं। इन कथानकों के आधार पर तो एक नया ही विमर्श बन सकता है और वह यह कि महिषासुर की असुर जाति अपने अन्तर्कलह एवं अभिजन संघर्ष के क्रम में मातृसत्ता को छोड़कर (सिंधु सभ्यता में मातृदेवी की पूजा के अवशेष हैं) योगभ्रष्ट होते हुए विलुप्त हो जाती है।

महिषासुर विमर्श : सनातन परम्परा की अकादमिक ईमानदारी की उपेक्षा—एक दृष्टि से महिषासुर और महादेव शिव को एक ही बताना गलत नहीं भी है। परन्तुः वह दृष्टि अद्वैत बोध की दृष्टि है। जिसका एक कथानक महाभारत में युद्ध के पश्चात् बर्बरीक के आख्यान में मिलता है। जहाँ वह कहता है कि अठारह दिनों के युद्ध में उसने मात्र कृष्ण को लड़ते और मरते देखा। मारने वाला और मरने वाला दोनों ही कृष्ण थे। 'सर्वम् ब्रह्ममयं जगत्' या 'सर्वम् देवीमयं जगत्' का यही जागतिक रूपान्तरण है। इस दृष्टि से सत्-असत्, पाप-पुण्य, जड़-चेतन सभी ब्रह्म स्वरूप ही हैं। किन्तु महिषासुर विमर्श में यह एकत्व/अद्वैत बोध शिव एवं महिषासुर को एक ही बताने में नहीं है। बल्कि, यह विमर्श जब महिषासुर को ही महादेव शिव बताता है तब पराभूत निष्ठा के पीछे दुर्गा के षड्यन्त्र को खोजता है। यह सनातन परम्परा की अकादमिक ईमानदारी ही है कि इसने देवों एवं असुरों को एक ही पिता की सन्तान बताया है। दोनों आपस में सौतेले भाई हैं। किन्तु दोनों की विश्व-दृष्टि अलग है और दोनों अलग-अलग ही नहीं, बल्कि एक दूसरे के विरोधी सभ्यता के निर्माता हैं। ऐसा

नहीं है कि बृहस्पति प्रणीत लोकायत मत से योगनिष्ठ असुर योगभ्रष्ट हो जाते हैं। यह योगभ्रष्टता तो देवों भी आती है पर वे सचेत एवं सचेष्ट होकर उसका परिमार्जन करते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते वे योगभ्रष्टता को ही सच्चा सुख मानकर असुर के असुर ही रह जाते हैं। आज तो सम्पूर्ण मानव जाति ही योगभ्रष्ट हो रही है। सही मायने में आज तथाकथित बृहस्पति प्रणीत लोकायत धर्म ही मानवता का असली मर्म बन गया है। क्या रक्षा के लिए विनाश पर खर्च करना, क्या भावी सन्ततियों की प्राकृतिक सम्पदा का भी उपभोग कर लेना देवोचित प्रवृत्ति है या यह आसुरी प्रवृत्ति है? यदि यह आसुरी प्रवृत्ति है तब यह मानवता को ही निश्चित करना है कि उसे योगभ्रष्ट हो सकने वाले महिषासुर की शरण में जाना है या मातृ-सत्ता उन्मूलक महिषासुर की शरण में जाना है।

वस्तुतः असुर जन-जाति के तथाकथित मिथकों एवं गोण्डी पुनेम दर्शन के साथ आर्य-अनार्य विवाद के उपक्रम को मिला देने से सनसनी फैल सकती है। लेखकों एवं पाठकों का एक बाजार तैयार हो सकता है। कुछ समय तक निहित स्वार्थ के राजनीति की रोटी सेंकी जा सकती है। किन्तु इससे न तो असुर जनजाति का कल्याण सम्भव है न ही मानवता का। हमें उन कारणों पर भी विचार करने की जरूरत है कि असुर के पड़ोसी खैरवार झारखण्ड में एस्टेट के स्वामी हो जाते हैं और स्थानीय शासन का संचालन करते हैं जिसमें हिन्दू एवं गैर हिन्दू दोनों शासित हैं। यदि असुर इतने ही समृद्ध, सम्पन्न एवं विकसित थे तो वे खैरवार जनजाति के द्वारा राज्य स्थापना के उपक्रम में भागीदार होने की बजाय बहिष्कृत क्यों रह गए? और क्या इतिहास की ऐसे हजारों घटनाओं में हिन्दू समाज का ही षड्यन्त्र रहा है। वास्तव में जहाँ अकादमिक ईमानदारी से अधिकांश घटनाओं एवं प्रारूपों को वर्णित किया गया है वहाँ षड्यन्त्र की दुर्गन्ध जिन विमर्शकारों को आती है वे उस षड्यन्त्र को नहीं समझा पाते जिसमें उलझकर यन्त्रवत वे विमर्श की रचना कर रहे होते हैं। इस तथ्य को (सनातन परम्परा की अकादमिक ईमानदारी) एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट कहा गया है कि इस ग्रन्थ में कुलधर्म, जातिधर्म, आपद्धर्म, शाश्वतधर्म और यहाँ तक कि पाखण्डियों के धर्म का भी उल्लेख किया गया है। इस स्पष्टीकरण के बावजूद आज के प्रगतिशील विमर्शकारों का शायद ही कोई तबका मनुस्मृति को जब घातक ग्रन्थ बता रहा होता है तब यह भी बता पाने की चेष्टा करता हो कि वह शाश्वतधर्म तत्त्व का सन्दर्भ ले रहा है या पाखण्डियों के धर्म तत्त्व का सन्दर्भ ले रहा है। यही हाल महिषासुर विमर्श के पैरोकारों का भी है। उनकी दृष्टि वहाँ नहीं जाती जहाँ संस्कृति है। वे वहाँ पहुँचते हैं जहाँ विकृति है और यह बताने की चेष्टा नहीं करते कि कब कहाँ और कैसे सनातन परम्परा ने विकृति को संस्कृति के रूप में मान्यता दी या विकृति के परिमार्जन की व्यवस्था की।

वस्तुतः महिषासुर विमर्श एक षड्यन्त्र की उपज है। इस षड्यन्त्र की एक

सोची-समझी राजनीति है। इसमें अभी असुर मोहरा बनाए गए हैं। देवी भागवत, मार्कण्डेय पुराण या दुर्गा सप्तशती में असुर (जनजाति) राक्षस नहीं हैं। राक्षस वह प्राणी या समुदाय है जिसमें राक्षसी प्रवृत्ति है। परन्तु महिषासुर विमर्श के पैरोकार असुरों से आगे बढ़ते हुए सभी दलित समुदाय को राक्षस (असुर) घोषित करने के हिमायती हैं। ताकि भारत का एक ऐसा विभाजन तैयार किया जा सके जो दलित एवं गैर-दलित के आधार पर हो। आज के समय में भी राक्षस हैं और उनका किसी वर्ग या जाति विषेश से संबंध नहीं है अपितु वे किसी भी वर्ग या जाति के हो सकते हैं। क्या आतंकवादी इस श्रेणी में परिगणित किए जा सकने वाले राक्षस नहीं हैं? क्या मादक द्रव्यों के तस्कर एवं महिलाओं तथा बच्चों का व्यापार करने वाले राक्षस नहीं हैं? यदि हैं, तब क्या दैवी प्रवृत्तियों को इनसे निरन्तर युद्ध में संलग्न होना अनुचित है? अतः आज पददलित कहे जानेवाले विश्व भर के समुदायों को यह सुनिश्चित करना है कि वे राक्षसी प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष में देवी दुर्गा (सद्प्रवृत्ति) के साथ हैं या महिषासुर विमर्श के नायकों द्वारा प्रकल्पित महिषासुर (असद्-प्रवृत्ति) के साथ हैं।

महिषासुर विमर्श : चुनौती एवं अपेक्षा—महिषासुर विमर्श को खड़ा होने के लिए वैसे तो अनेक चुनौतियाँ हैं और उन चुनौतियों के प्रत्युत्तर की अपेक्षा इस विमर्श के पैरोकारों से की जाती है। फिर भी इन चुनौतियो में चार प्रमुख हैं। प्रथम, सनातन परम्परा में दुर्गा सहस्रनाम एवं शिव सहस्रनाम उपलब्ध हैं। यह मात्र सहस्रनामावली का संग्रह नहीं है बल्कि प्रत्येक नाम के पीछे कोई इतिहास, घटना एवं आख्यान है। यदि दोनों सहस्रनाम के आख्यानों के तुलनात्मक विमर्श के द्वारा दुर्गा/पार्वती द्वारा महिषासुर को मोहासक्त करके शिव बनाने की स्थापना सिद्ध हो सकती है तब निश्चित ही संभुशेक (महिषासुर) को शिव घोषित किया जा सकता है। अन्यथा, संभुशेक के भक्तों को अपनी पराजित निष्ठा का परिमार्जन करना उपयुक्त होगा। द्वितीय, यदि दुर्गा या पार्वती के द्वारा ही सिन्धु सभ्यता के उन्नायक महिषासुर का रूपान्तरण कर दिया गया तब दुर्गा या पार्वती आरम्भिक ऋग्वैदिक रचना में क्यों उल्लिखित नहीं हैं। जबकि आर्य रचना होने के कारण दुर्गा को आर्यों के भारत में आने के तत्काल बाद ही सक्रिय होना पड़ा होगा। तृतीय, भारत के दर्जनों जनजातियों में शिव एवं दुर्गा पूजनीय हैं जबकि इन्हें तो आर्य रचना होने के कारण गैर-आर्य समूहों (तथाकथित) में किसी भी तरह समाविष्ट ही नहीं होना चाहिए था। और यह समाविष्ट भी इस तरह से हैं जहाँ जनजातियों के आदिम या सरना धर्म से उनका सायुज्य है। चतुर्थ, सिन्धुवासी यदि असुर थे और उनका अधिपति महिषासुर था, तब भी यह तो सुनिश्चित है कि यह सभ्यता अनेक बार बसी एवं तबाह हुई। सम्भव है कि इनका आदि प्रवर्त्तक संभुशेक (सद्प्रवृत्ति से युद्ध) रहा हो। किन्तु, कालान्तर में इनका अधिपति महिषासुर (असद् प्रवृत्ति से युद्ध) बन गया हो और आन्तरिक अभिजन संघर्ष तथा बाह्य आक्रमण के संयुक्त समीकरण से वह कालातीत बन गया हो। इस समीकरण में महिषासुर के अनुयायियों ने महिषासुर में

संभुशेक को अधिष्ठित करने का उपक्रम चलाया हो और उस घृणित उपक्रम का ही एक स्वरूप आज का महिषासुर विमर्श हो।

समाहार : शिव एवं दुर्गा का वास्तविक स्वरूप—भौतिक सत्यापनीयता की दृष्टि से शिव, दुर्गा या महिषासुर का देवोपम होना या न होना प्रस्तुत लेख की सीमा से परे है। भौतिक सत्यापनीयता की दृष्टि से यह तीनों ही मानवीय प्रवृत्ति के द्योतक हैं। शिव जहाँ समानता, समरसता एवं विषमता में समता को अधिष्ठित करने की प्रवृत्ति के द्योतक हैं वहीं दुर्गा या पार्वती ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की विशुद्ध शक्तिमत्ता की द्योतक हैं। शिव को समरसता हेतु विशुद्ध ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की आवश्यकता है (विशुद्ध ज्ञान देहाय) वहीं दुर्गा को इस विशुद्धता हेतु समत्व की आवश्यकता है। यह समीकरण सनातन परम्परा में अत्यन्त विराट है। श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन जिस मानवीय विषाद को श्रीकृष्ण के समक्ष रखते हुए कहते हैं कि (प्रदुष्यन्ति कुलः स्त्रियाः वर्ण संकरस्य च जायते) वह भी यही समीकरण है। कुलस्त्रियाः का तात्पर्य इस शरीर की ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों से है। यदि इस समीकरण की उपेक्षा कर दी जाए तब श्रीमद्भगवद्गीता में योगनिष्ठ हो जाने की सत्रह अध्यायों में वर्णित उपदेश का कोई औचित्य नहीं रह जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कौरवी प्रवृत्ति प्रदुष्यन्ति कुल स्त्रियाः के लिए जिम्मेदार हैं। देवी भागवत एवं मार्कण्डेय पुराण में महिषासुरी प्रवृत्ति प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियाः के लिए जिम्मेदार हैं। इस शरीर रूपी साम्राज्य पर विजय अर्जुन को कुल की स्त्रियों पर (ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों) विजय प्राप्त करके मिलती है। ऐसा ही विजय मार्कण्डेय पुराण में सुरथ को भी योगनिष्ठ होकर ही प्राप्त होती है। 'महिषासुर निर्नाशी भक्तानाम् वरदे नमः' में भक्त सद्प्रवृत्तियों पर चलनेवाले साधु जन हैं। अन्यथा, आर्य श्रेष्ठता के दावे के आधार पर 'अनार्यानाम् निर्नाशो आर्यानाम् वरदे नमः' या 'दस्युनाम निर्नाशी आर्यानाम् वरदे नमः' लिखा गया होता, क्योंकि, ऋग्वेद में अनाशो एवं दस्यु तथाकथित रूप से असद्प्रवृत्ति के घोषित किए जाते रहे हैं। परन्तु, शिव एवं पार्वती के शरण में अनार्य, दस्यु, देव, दानव गन्धर्व, यक्ष आदि सभी त्राण पाते हैं। अर्थात् शिव एवं पार्वती के सनातनी आख्यान में किसी भी जाति, वंश, क्षेत्र, रूप-रंग आदि के प्राणियों को त्राण प्राप्त होता है। इसे निस्त्राण करने की प्रवृत्तियों से मानवजाति को सजग रहना होगा। इसके लिए मिथकीय आख्यानों के इतिहासबोध और इतिहासबोध के मिथकीय आख्यान दोनों के ही चालों से बचने की आवश्यकता है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों के इतिहास लेखन से जितना इतिहास को उजागर किया जाता है उसके अधिक इतिहास को निर्मूल कर दिया जाता है। विशुद्ध अकादमिक दृष्टि से देखें तो पाश्चात्य इतिहास लेखन में इतिहासबोध से मिथकीय आख्यान निर्मूल हुए हैं और भारत में मिथकीय आख्यानों के आच्छादन से इतिहास विलुप्त नहीं होने पर भी गुम हो गया है। अतः प्रश्न यह है कि इतिहासबोध यदि पश्चिम की तरह पुनर्जागरण के मूल्यों से आच्छादित हो जहाँ अतीत से संबंध तोड़ लेने की प्रवृत्ति में

ही मानवीय स्वतन्त्रता का सार निहित हो वहाँ अतीत तो अभिशाप ही होता है। इस अभिशाप को वर्तमान के नजरिये से धो डालने से इतिहास वह रह नहीं जाता है जो वह था। इसी तरह मिथकीय आख्यानों से इतिहास को रचने से इतिहास की ऐतिहासिकता जिस मूल्यनिष्ठता में बदल जाती है, उसके मूल्य समावेशी न हुए तो वंचित समूहों का इतिहास उजागर ही नहीं हो पाता है। तथापि, भारत की बची हुई विविधता और यूरोप की ओढ़ी गई एकरूपता में इतिहास कहाँ शेष बच गया है और इस बचे हुए इतिहास को कैसे विद्रूप हुए बिना व्याख्यायित किया जाए, अब भी एक यक्ष प्रश्न बना हुआ है।

महादेव एवं पार्वती के जिन छिट-पुट एवं कपोल-कल्पित कथानकों से महिषासुर के पराजय की गाथा लिखी गई है, उसी में गहरे उतरने पर एक दूसरी गाथा भी लिखी जा सकती है। वह यह कि, पार्वती या दुर्गा ने संभुशेकों को महिषासुर बनने से रोका और उन्हें महादेव बनने का, सर्वग्राही एवं समग्र बनने का पथ प्रशस्त किया। समुद्र मंथन से निकले विष का शिव (यहाँ प्रसंगवश संभुशेक) के द्वारा पान किया जाना तथाकथित आर्य साजिश न होकर जनजातीय अन्तर्कलह/पारिवारिक कलह का भी परिणाम हो सकता है। तब तारा के रूप में दुर्गा या पार्वती के द्वारा निज स्तनपान द्वारा उनकी रक्षा की जाती है। सती के देह त्याग पश्चात् भी संभुशेक का आचरण अंधकार से आच्छादित है। यहाँ भी पार्वती के संयोग से वे शिवत्व प्राप्त करते हैं। इसी तरह पार्वती की भी अनेक अवसरों पर शिव के द्वारा रक्षा की जाती है। अतः यदि यह कहा जाए कि संभुशेक ही शिव बन गए और इस सम्पूर्ण प्रकरण में पार्वती/दुर्गा ने उन्हें सहयोग दिया तब यह अतिशयोक्ति नहीं होगी, बशर्ते यहाँ पार्वती को षड्यन्त्रकारी न बताया जाए।

वस्तुतः अर्धनारीश्वर के रूप में शिव की परिकल्पना भी यही स्थापित करती है कि शिव/महादेव चाहे उनका प्रारम्भिक स्वरूप जो भी रहा हो धीरे-धीरे शिव बनते चले गए और उसमें निरन्तर पार्वती का योगदान रहा। यह योगी के योगाधिपति बनने की घटना है। जहाँ शरीर एवं इन्द्रियों में, बुद्धि एवं इन्द्रियों में तथा चित्त एवं इन्द्रियों में खींच-तान समाप्त हो जाती है। यह वह अवस्था है जहाँ ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के श्रेय एवं प्रेय का संघर्ष समाप्त हो जाता है। परन्तु, यह अवस्था संभुशेक को शहरी सभ्यता के केन्द्र हड़प्पा में नहीं प्राप्त हुआ। उन्हें यह अवस्था शहरी सभ्यता के अभिजन संघर्ष से मुक्त होने पर प्राप्त हुआ। आज की दृष्टि से कहें तो आधुनिकता के दुष्प्रभाव से मुक्त होने पर प्राप्त हुआ। संभुशेक के मानसिक अन्तर्द्वन्द से उपजे ज्ञान ने उन्हें ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को निर्मल करने का मार्ग प्रशस्त किया। यही निर्मलीकरण की प्रक्रिया पार्वती या दुर्गा हैं। इसी रूप में वे अयोनिज हैं। संभुशेक ही यदि शिव बन गए तब संभुशेक अयोनिज नहीं हैं पर शिव के रूप में रूपान्तरित संभुशेक अयोनिज हैं। पार्वती या दुर्गा भी अयोनिज हैं। महामाया का ध्यान ब्रह्मा ने

निद्रा-मग्न विष्णु को जगाने के लिए किया। मधु-कैटभ रूपी दुष्प्रवृत्ति की ओर मानव का सहज ही झुकाव हो जाता है और इस दुष्प्रवृत्ति के वशीभूत होकर वह ज्ञान एवं विवेकशून्य होकर तन्द्रामग्न हो जाता है। इस तन्द्रा से जगने के लिए ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के निर्मलीकरण की आवश्यकता होती है। इसके लिए ज्ञान के आह्वान की अपेक्षा होती है। इसी ज्ञानरूपी योगमाया की स्तुति ब्रह्मा के द्वारा की गई है। इस स्तुति में 'त्वं स्वाहा से महासुरौ' तक पन्द्रह श्लोक हैं। इसमें कहीं भी दुर्गा को भीषणरूपा, रौद्र-रूपा, नहीं कहा गया है। उन्हें 'त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा' तो कहा गया है और 'त्वयैतत्सृज्यते जगत्' भी कहा गया है। उनके शस्त्रों के वर्णन के क्रम में ही उन्हें 'सौम्या' भी कहा गया है। इन सबकी तार्किक व्याख्या दुर्गा को ज्ञान के अतिरिक्त कुछ साबित कर ही नहीं सकती है। क्योंकि, ज्ञान ही सौम्य है, यही सृजन एवं संहार का आदिकारण है। अतः दुर्गा एवं पार्वती ज्ञान के रूप में अवतरित होती हैं। इस ज्ञान को ही ब्रह्मा ने मधु कैटभ के संहार हेतु नहीं बुलाया अपितु इस ज्ञान को तन्द्रा मग्न विष्णु शरीर में संचारित करने का प्रयत्न किया। ज्ञान से आप्लावित शरीर ही दुर्बुद्धि का नाश कर सकता है। महिषासुर यही दुर्बुद्धि है। इस दुर्बुद्धि के भी अनेक स्वरूप होते हैं। अतः ज्ञानरूपी दुर्गा को भी अनेक स्वरूप ग्रहण करके उसका विनाश करना होता है। इस विनाश लीला में ज्ञान को जिस संबल की आवश्यकता होती है, इतिहासकार उसी संबल के इर्द-गिर्द इतिहास लिखता है। ज्ञान का उदय अनुपम है। इसे किसी जाति, वंश गोत्र, क्षेत्र आदि से जोड़कर विद्रूप ही किया जा सकता है और ऐसा ही महिषासुर विमर्श के पैरोकारों द्वारा दुर्गा के साथ किया जा रहा है। वस्तुतः आज की सभ्य जातियाँ विजनजातिकृत-जनजाति (जी.एस. घुर्ये : 1995) ही हैं। अतः भारत की जो पहचान जाति-जनजाति सातत्य से बनी है, उसे बने रहने देना चाहिए। उसे तोड़ देने पर यदि हमारा भविष्य वर्तमान सोमालिया, सीरिया आदि से बेहतर हो सकता हो और हम आज के भारत से बेहतर भारत का निर्माण कर सकते हों तभी उसे तोड़ना समीचीन होगा। इसके बावजूद भी यदि कुछ एक लोगों ने उसे तोड़ने की ठान ही ली है तो इतिहास के इतने बड़े फलक पर उलट-फेर करने के लिए बहुत ठोस एवं सबल प्रमाण चाहिए। लेकिन महिषासुर विमर्श के पैरोकारों ने विशाल और विविधितापूर्ण भारत के कतिपय आंचलिक किंवदंतियों और छोटे-छोटे जनजातीय समूहों की छोटी-छोटी प्रथाओं के आधार पर इस विमर्श का जैसा ताना-बाना बुना है वह सात अंधों द्वारा हाथी को पहचानने जैसा ही 'आर्कियोलाजी ऑफ नॉलेज' बनाना है। इससे भी आगे जब वे महिषासुर विमर्श के दर्शन को बहुत ही अल्प और अप्रामाणिक जानकारी के आधार पर बुद्ध और लोकायत दर्शन से जोड़ते हैं तो स्वयं ही अपनी स्थापनाओं को और भी कमजोर कर देते हैं। इस विमर्श में गोण्डी पुनेम दर्शन से बुद्ध के दर्शन की जैसी समानता देखी गई है वैसी समानता तो बुद्ध के दर्शन की अजीतकेश कम्बली, मक्खली गोशाल, संजय वेलट्ठी पुत्त इत्यादि से भी दिखाई जा

सकती है, जिनका बुद्ध ने 'ब्रह्मजालसुत्त' में खंडन किया है। अब जहाँ तक लोकायत दर्शन का सवाल है तो भारतीय वाङ्मय में चार्वाक परम्परा का एक ही ग्रंथ सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है और वह है 'तत्त्वोपप्लवसिंह' (अम्बिकादत्त शर्माः 2015)। इस ग्रंथ में ग्रंथकार जयराशि भट्ट ने वृहस्पति का भी खंडन किया है और इस खंडन का अभिप्राय वृहस्पति की विचारधारा को उसकी अंतिम तार्किक परिणति प्रदान करना है। अतः इस प्रकार के फंतासी विमर्श से बेहतर यही होगा कि हम भारत के आम नागरिकों के जीवन में 'चान्स फैक्टर' को कम करते हुए 'च्वाइस फैक्टर' को इस तरह बढ़ावा दें कि हमें अतीत में लौटने की अपेक्षा भविष्य में आगे बढ़ने की प्रेरणा और मार्ग मिले।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- आर. जी. कॉलिंगवुड (1946), द आइडिया ऑफ हिस्ट्री, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड।
- विल डूराँ (1953), द प्लेजर ऑफ फिलॉसफी, सिमोन एण्ड श्चस्टर न्यूयार्क।
- एडवर्ड सईद (2001), ओरिएण्टलिज्म, पेंग्विन बुक्स, नई दिल्ली
- विंसेंट स्मिथ (1990), द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
- मोतीरावण कंगाली (2011), डोंगरगढ़ की बम्लाई दाई बम्लेश्वरी, चंद्रलेखा कंगाली, नागपुर।
- मोती रावण कंगाली (2011), पारी कुमार लिंगो पुनेम दर्शन, चंद्रलेखा कंगाली, नागपुर।
- प्रमोद रंजन (2014), महिषासुर, दुसाध प्रकाशन, लखनऊ।
- विश्वनाथ मिश्र (2015), उत्तर-आधुनिकतावाद : अ-ऐतिहासिक एवं अ-सामाजिक विवेक की तार्किक परिर्णत, उन्मीलन, वर्ष-29, अंक-2
- भीमराव आम्बेडकर (2009), बुद्धा और कार्ल मार्क्स, सिद्धार्थ बुक्स, नई दिल्ली।
- प्रसन्न कुमार चौधरी (2015), अतिक्रमण की अंतर्यात्रा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
- विश्वनाथ मिश्र (2014), जाति जनजाति अन्तःक्रिया : परम्परा एवं आधुनिकता बिरहोर जनजाति के सन्दर्भ में, मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल, अंक 1-2
- एस.बी.सी. देवले (1992) डिस्कोर्स ऑफ एथनिसीटी : कल्चर एण्ड प्रोटेस्ट इन झारखण्ड, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
- जी.एस. घुर्ये (1995), द सिड्यूल्ड ट्राइब्स, पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई।
- काशीनाथ न्योपाने एवं अम्बिकादत्त शर्मा (2015) तत्त्वोपप्लवसिंहः सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद, डी. के. प्रिंट वर्ल्ड, नई दिल्ली।
- अम्बिकादत्त शर्मा (2015) भारतीयता के समासिक अर्थ-संदर्भ, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।

आधुनिकता और भारतीयता पर कुछ विचार

लक्ष्मी नारायण मित्तल*

वर्ष 1989 में उत्तराखंड के टिहरी जनपद के जौनपुर ब्लॉक के एक गाँव में एक प्राथमिक पाठशाला की स्थापना से सिद्ध (Society for Integrated Development of Vimalayas) की यात्रा शुरू हुई। उद्देश्य था—प्रचलित साक्षरता (जिसे हम भ्रमवश शिक्षा/विद्या कहते हैं) से वंचित ग्रामीण बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराना और मान्यता थी कि पढ़-लिखकर इस जौनपुर ब्लॉक के बच्चे 'विकास' (?) में भागीदारी कर सकेंगे। संस्थापक हैं—पवन कुमार गुप्ता और उनकी सहधर्मिणी श्रीमती अनुराधा जोशी।

6 अगस्त, 1953 को कलकत्ता में जन्मे पवन आई.आई.टी. दिल्ली से सिविल इंजीनियरिंग में स्नातक हैं। उनके ताऊ जी श्री बालकृष्ण गुप्त का डॉक्टर राममनोहर लोहिया से पारिवारिक संबंध था। अतः पवन पर समाजवादी चिंतन का गहरा प्रभाव रहा है। बचपन से ही, जयप्रकाश नारायण, मधुलिमये, किशन पटनायक के प्रभाव में प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा बिहार में हुई। इंजीनियरिंग में स्नातक डिग्री के बाद कुछ वर्षों तक उद्योग चलाया परंतु जीवन के गहरे अर्थों की तलाश बनी रही। विपश्यना की गहरी साधना की, परंतु बाद में मसूरी के पास ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षा और शोध की विचारधारा से 'सिद्ध' की स्थापना की। यह सन् 1989 ई. की बात है। समयांतर में सिद्ध का काम एक गाँव से लेकर चालीस गाँवों तक फैल गया, परंतु ग्रामीण पर्वतीय महिलाओं से संवाद के बाद गहरी जाँच-पड़ताल से पता चला कि प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से युवाओं में दुष्प्रभाव ही पड़ा है। शिक्षा शून्यता में नहीं होती। वह अपने परिवेश की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सभ्यतागत स्थिति को प्रभावित भी करती है और प्रभावित भी होती है। परंपरा और आधुनिकता, स्थानीयता और वैश्वीकरण, देशज ज्ञान और आधुनिक विज्ञान जैसे मुद्दों पर चर्चा ही नहीं होती और इन युग्मों को परंपरा-विरोधी मान लिया जाता है। 'सिद्ध' ने अपने 'संवाद' 'सन्मति',

* एच-899, ओल्ड हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, मुरैना-476001

सुशिक्षा और शोध विभागों द्वारा ऐसे मुद्दों पर खूब विचार-विमर्श किया और ऐसी स्पष्टता बनाई कि शिक्षा सूचना या जानकारी मात्र न होकर 'समझ' के दायरे में आए। इसी के फलस्वरूप आत्मविश्वास और आत्मश्लाघा (self esteem) को लक्ष्य-बनाकर स्थानीय परिवेश को माध्यम बनाकर शिक्षण-कार्य किया। मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न उठाते हुए स्वजनित ज्ञान के आधार पर राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक कविताएँ रचनी प्रारंभ कीं। स्वयं की जीवन-दृष्टि और समाज की जीवन-दृष्टि की दूरी कम करते हुए नकल या दूसरे द्वारा थोपी मान्यताओं पर देश-समाज को खड़ा करना होगा। 'सिद्ध' के कार्यकर्ताओं को समझ में आने लगा कि शिक्षा का कार्य एक ओर 'व्यक्ति परिवर्तन' है तो दूसरी ओर मौजूदा सामाजिक संदर्भों में शिक्षा का लक्ष्य 'व्यवस्था-परिवर्तन' भी होगा।

प्रसिद्ध गाँधीवादी इतिहासकार धर्मपाल जी के सान्निध्य से गाँधी-विचारों का प्रभाव 'सिद्ध' के कार्यकलापों पर पड़ने लगा और देश-समाज के बारे में देशज समझ बनने लगी। बाद में *बाबा नागराज* के द्वारा प्रतिपादित *'मध्यस्थ दर्शन'* से 'सिद्ध' की यात्रा में एक निर्णायक मोड़ आया। *'मान्यताओं में जीना'* और *'वास्तविकता में जीना'* के बीच फर्क स्पष्ट दिखने लगा। इस प्रकार *'समस्याओं के विश्लेषण'* से प्रेरित कार्य और *'समाधान से प्रेरित कार्य'* के बीच भी फर्क स्पष्ट हो गया। समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व नामक मानव-लक्ष्यों का ध्रुवीकरण हुआ। 'सिद्ध' अब शिक्षा को मानव की 'स्वाधीनता', 'सामाजिकता' और 'स्वावलंबन' के संदर्भ में देखने लगा।

आर्थिक स्वावलंबन को लेकर आय-वृद्धि जैसे बहुत से काम प्रारंभ किए। परंतु मुख्य कार्य शिक्षण और शोध तथा संवाद के साथ-साथ प्रकाशन भी रहा।

पवन पिछले 30 वर्षों से 'हिमालय बार' नामक चिंतनशील पत्रिका का संपादन कर रहे हैं और अपने अनुभवों के आधार पर निरंतर पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते रहते हैं। पिछले कई वर्षों से जनसत्ता हिंदी दैनिक में उन्होंने शृंखलाबद्ध लिखना शुरू किया है। अब 'रेबार' का अंग्रेजी संस्करण भी उपलब्ध है।

'आस-पास के परिवेश से शिक्षण' से संबंधित जो प्रयोग 'सिद्ध' ने किए हैं, उसमें इस मान्यता को परखने का प्रयास किया गया है कि 'आधुनिक शिक्षा' की एक बुराई पाठ्य-पुस्तकें हैं जिनके कारण बच्चों में बोध, आत्म-विश्वास, 'तार्किकता' 'जिज्ञासा', समझ की प्रवृत्ति, सही प्रश्न करने का अभ्यास और स्थानीयता को महत्त्व देने जैसे मुद्दों का दम घुट जाता है।

पश्चिमी चिंतन पर आधारित आधुनिक शिक्षा ने घर और बाहर की दुनिया से दूरी बढ़ा दी है। घर पर, जमीन पर बैठकर खाना खाना, और बाहर मेज पर टूटे काँटे से खाना, घर में धोती-लुंगी, बाहर पैंट-कमीज। घर में अपनी बोली, बाहर अंग्रेजी या राजकाज की भाषा। जो कुछ स्थानीय है, अपना है, वह सब नकारा और ओछा और जो कुछ पश्चिम की आधुनिकता से आया है – वह स्वीकार्य, आज देश में 'आधुनिक

शिक्षा' के नाम पर जो हो रहा है वह तो अमरीका और यूरोप की आधुनिकता का अनुसरण है और वह भी बहुत निचले दर्जे का।

कुछ साल पहले पवनजी और उनकी पत्नी अनुराधा ने जर्मनी के हाइडल बर्ग विश्वविद्यालय में महात्मा गाँधी के जीवन पर एक प्रदर्शनी भी आयोजित की थी। आज भी गाँधी-जगत में इस प्रदर्शनी की चर्चा होती रहती है।

'सिद्ध' ने धर्मपाल की एक किताब छापी है—''The Cow Slaughter in India'। इस पुस्तक से पता चलता है कि भारत में मुख्यतः तो गायें अंग्रेजों की फौज के लिए कटती थीं और मुसलमानों को यूँ ही बदनाम किया गया। इस पुस्तक का विमोचन प्रसिद्ध शिया धर्म प्रचारक कल्बे सादिक ने लखनऊ में किया था और देवबंद सहित अनेक मुस्लिम शिक्षाविदों और राज-नेताओं ने इस पुस्तक की सराहना की थी। तब की प्रेस ने हिंदी, अंग्रेजी और उर्दू में इस विमोचन और इस पुस्तक पर व्यापक कवरेज की थी।

पवन जी के निर्देशन में एक और शोध कार्य हुआ था – 'The matter of quality'। इसकी भारत में व्यापक चर्चा हुई थी, क्योंकि तभी जीन ड्रेज की प्राथमिक शिक्षा पर 'PROBE' रिपोर्ट आई थी जिसकी अनेक अवधारणाओं का खंडन 'सिद्ध' ने अपनी रिपोर्ट में किया है।

आज इस देश में सोच का दायरा दो ध्रुवों में बँट गया लगता है। आप यदि परंपरा, स्थानीयता, स्वधर्म और भारतीय चित्त और मानस की बातें करें तो आप 'संघी' हैं और आधुनिक विज्ञान और पश्चिम की बातें करें तो 'सैकुलरवादी'। जो लोग इन दो दायरों से बाहर सोचते-समझते हैं, उनके लिए स्थली नहीं है। पवन जी कहते हैं—''सोच, व्यवहार और कर्म के अपने-अपने दायरे होते हैं। ये दायरे हमारे सोच को संकुचित कर देते हैं, और हम उन घेरों से बाहर निकल नहीं पाते।''

आज हमारा समाज और राज-व्यवस्था दो अलग-अलग खंडों में बँटता जा रही है। नए भारत की रचना से जुड़े सवालों को लेकर पवन जी जैसा सोच रखने वाले इने-गिने नहीं हैं। उनकी संख्या काफी बड़ी है। 'सिद्ध' ने ही पिछले 30 वर्षों में एक बड़ी टीम खड़ी कर दी है। परंतु यह भी सच है कि ऐसे लोगों को अभिव्यक्ति का व्यापक अवसर नहीं मिलता। मीडिया भी ब्रेकिंग न्यूज के चक्कर में ऐसी कोई स्थली नहीं बना पाया जहाँ दो ध्रुवों से अलग तरह की सोच रखने वालों की अभिव्यक्ति का व्यापक मौका मिले।

सन् 1947 में हमें जो स्वतंत्रता मिली, वह वास्तव में सत्ता हस्तांतरण ही था। शुरू में लगा था कि शायद भारत अपनी निजी व्यवस्थाओं पर अपने-अपने आधार स्तंभों—शिक्षा, व्यापार, व्यवसाय, राजनीति, स्वास्थ्य, यातायात न्याय—पर खड़ा हो सके परंतु जल्दी ही यह धारणा ध्वस्त हो गई, क्योंकि बकौल धर्मपाल जी ''...सत्ता-हस्तांतरण के लिए जिस प्रकार की बातचीत चली और जिस तरह के

समझौते किए गए उसका मुख्य उद्देश्य उन लोगों के पक्ष में इतिहास का चक्र मोड़ना था जो पश्चिमी विचारों के ढाँचे में ढल चुके थे और *उन लोगों को किनारे करना था जो देसी तौर-तरीकों की वकालत कर रहे थे।*'

इन 30 वर्षों में 'सिद्ध' में जो वैचारिक मंथन हुआ है (जो पवन जी एवं उनके साथियों के लेखों से प्रकट होता है) जिसमें धर्मपाल जी की मार्फत गाँधी को समझने की सही समझ बनी और श्रद्धेय बाबा नागराज के मध्यस्थ दर्शन से अस्तित्व में जो वास्तविकता है, उससे अनेक भ्रम दूर हुए। व्यक्ति, समाज और व्यवस्था को लेकर जो मूलभूत प्रश्न हैं उससे स्पष्टतः यह बात उभरती है कि आज देश में जो हो रहा है वह तो अमरीका एवं यूरोप की आधुनिकता का अंधा अनुसरण मात्र है—वह भी बहुत एक निचले स्तर का था। 'पश्चिमी विचारों में ढले हुए आधुनिकतावादी और अपने समाज से कहे हुए लोग कोई रातों-रात पैदा नहीं हो गए। वे तो कोई दो या ढाई शताब्दी से फल-फूल रहे हैं।'' हमारी निज की छवि को नकारा गया है। हमें यह सोचने पर बाध्य किया जाता है कि हमारा जो कुछ भी अपना है—परंपरा से—वह तो पिछड़ापन है। इस पाश्चात्य आधुनिक दृष्टि ने आस्था की जीवंतता को मृतप्राय कर दिया है। तथाकथित 'विकास' जिस आधुनिकता को प्रचारित करता है वह मुख्यतः तो पश्चिम के उपभोक्तावाद से संबद्ध है। इस उपयोगितावाद ने मनुष्य को मात्र शरीर-पुंज मानकर 'सुविधा' के (सुख का भ्रम पालते हुए) साधन जुटाने पर बल दिया है। इसमें मनुष्य के 'मैं' (चैतन्य) को नकारा जाता है। यूरोपीय दृष्टि से निकला राज्य-राष्ट्र केंद्रित ढाँचा वैयक्तिक अपराध को राज्य शासित अपराध से रोकने (गलत को गलत से सुधारने, युद्ध को युद्ध से रोकने) की नीति पर आधारित है।)

कुछ लोग तर्क देते हैं कि आधुनिक शिक्षा ने कम-से-कम साक्षरता-दर को बढ़ा तो दिया है। इस संदर्भ में सन् 1991 को लंदन के चैथम हाउस में गाँधी जी ने अपने भाषण में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व इस देश की शिक्षा-व्यवस्था को एक खूबसूरत पेड़ के रूपक में बाँधकर कहा था कि पचास या सौ साल पहले की तुलना में भारत आज ज्यादा निरक्षर है। तत्कालीन कलक्टरों की रिपोर्टों से ज्ञात होता है कि लगभग सभी गाँवों में एक से ज्यादा स्कूल थे और उसमें द्विजेतर और (तथाकथित) शूद्रों की संख्या 66 प्रतिशत से भी अधिक थी। लड़कियों की नामांकन संख्या भी काफी अधिक थी। इसी प्रकार आज जिन्हें अल्संख्यक मानकर राजनीति की जाती है उनकी संख्या भी काफी अधिक थी (इस्लाम धर्म को मानने वाले लड़के-लड़कियाँ भी काफी तादाद में पढ़ती थीं।)

व्यवस्थाएँ जब सभ्यतागत स्वभाव से तालमेल नहीं बैठा पातीं तब समाज जड़ हो जाता है। दूसरी दुनिया से ज्ञान के नाम पर सूचना मात्र लेकर हमने जो भारतीय समाज बना लिया है वह हमारे निज स्वभाव से मेल नहीं खाता। भारतीय जीवन-दृष्टि की स्वदेशी व्यवस्थाएँ और प्रतिमाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान के आधार पर स्थापित हुई

थीं। पश्चिमी ईसाइयत या पश्चिमी यहूदी विचारधारा में चराचर जगत की शेष ईकाइयों से संबंधों की नैय्यायिकता (Logic) नहीं है। भारतीय स्वभाव विकेंद्रित तरीके से चलता है। माननीय दर्शन जरूरत से ज्यादा दुनियादारी में न फँसने का है।

यदि हमें अपने देश और समाज को पुनः अपने पैरों पर खड़ा करना है तो स्व-स्वभाव को समझना होगा। हमें अपनी निजी व्यवस्थाओं की संपन्नता और कुशलता पर विश्वास करना होगा। तभी हम अपनी व्यवस्थाओं पर अपना ढाँचा खड़ा कर पाएँगे।

आधुनिक शिक्षा, आधुनिक विज्ञान, आधुनिक पूँजी और आधुनिक राष्ट्र-राज्य की संकल्पना ने जिस राजनीतिक अपरिशुद्धता (Political incorrectness) का भय हमारे मन में पैदा कर दिया है उसमें हम ही नहीं दुनिया के और भी शोषित समाज आधुनिक शिक्षा के पक्षधर बन जाते हैं जो असल में जनसाधारण के शोषण के लिए ही बनाई गई है।

कुछ लोग कहते हैं कि अब पीछे लौटाने में बहुत देर हो गई है। दुर्भाग्य से हमारे आधुनिकतावादी यह नहीं समझ पा रहे हैं कि निजतर अभी भी हमारे घरेलू जीवन में जीवित हैं। हम बाहर अंग्रेजी या मानक भाषा बोलते हैं, घर में अपनी बोली। घर पर जमीन पर बैठकर भोजन करते हैं, बाहर मेज-कुर्सी पर। घर में धोती-लुंगी पहनते हैं बाहर, पतलून। घर पर अभी भी पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा करते हैं बाहर धर्मनिरपेक्षता का चोला ओढ़ लेते हैं।

मान्यताएँ यदि मूल्यों पर बनती हैं तो व्यवहार-संगत होती हैं और अनुभव और मान्यता के बीच फाँक नहीं होती। जब मान्यताएँ अपने अनुभव और व्यवहार पर नहीं बनतीं, तो वे शोषणकारी भी हो सकती हैं, भले ही हम बालाधिकार, मानवाधिकार, महिला उत्थान और लोकपरता (Secularism) की बातें करें।

शिक्षा जब स्वयं की स्वीकृति द्वारा पुष्ट होती है तो हमें बाह्य तत्त्वों और इंद्रिय और इंद्रियेतर प्रतिमानों की समझ बनती है। यही हमारा अन्तर्विवेक है। शिक्षा केवल स्वयं के लिए साधन-सुविधा जुटाना नहीं है। यह सर्वसुलभ के लिए है और स्वयं और समाज के सहज जीवन-मूल्यों के लिए है।

आधुनिकता ने 'गरीबी', 'निरक्षरता', 'पिछड़ापन', 'कायरता', 'स्वाभिमान' 'जाति', 'स्वशासन', 'स्वतंत्रता', 'अधिकार' आदि शब्दों की नई परिभाषा गढ़ ली है। ये सादी परिभाषाएँ और मान्यताएँ हमारे अपने प्रतिमानों के अंतर्विरोध में हैं। सृजनात्मकता हमेशा स्थानीय होती है। स्थानीय विद्या और कला से हमारी अवधारणाएँ स्थापित होती हैं। तथाकथित वैश्विकता ने शिक्षा के सर्वजनीनीकरण के नाम पर पूरी दुनिया को एक लाठी से हाँकने का काम किया है।

पिछले कुछ वर्षों में सरकारी प्रयत्नों से जो पश्चिमीकरण हो रहा है, वह कुछ ज्यादा बढ़ता ही दीख रहा है।

यह देवसंयोग है कि 'सिद्ध-मित्र' द्वारा 'सिद्ध' से जुड़े नए-पुराने कार्यकर्त्ता अपने को पहचानने और अपने को समझने की आवश्यकता आज और भी ज्यादा महसूस कर रहे हैं ताकि हमारी आत्म छवि सुधरे और हमारी जीवंतता लौटकर आ सके। यह तड़प और बेचैनी उस पीड़ा के कारण है जो भारत की समस्याओं के समाधान के लिए पश्चिमी ईसाइयत में उपाय खोजते हैं फिर यह बकौल धर्मपाल 'मैकाले के रास्ते हो, कार्लमार्क्स के रास्ते हो या आज की वैज्ञानिक आधुनिकता के रास्ते हो—बात एक ही है।' हमें देश चलाने की बागडोर उन्हें सौंपनी होगी जो स्थानीय, देशज और पारंपरिक व्यवस्थाओं पर देश को नेतृत्व देने की क्षमता रखते हों।

मस्तिष्क-विरोध की प्रथम घटना

केशीकांत शकुन*

उसे कितनों ने पढ़ा होगा? लोक-मतानुसार मनुस्मृति में सिर को ब्राह्मण, भुजाओं को क्षत्रिय, वैश्य को उदर और पाँवों को शूद्र बताया गया है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्तम् का बहुश्रुत श्लोक है :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

प्रत्येक का अपना पद, महत्त्व एवं स्थान है। तब कार्य भी अपने-अपने होंगे और हैं। शरीर उक्त प्रकार की व्यवस्था का प्रतीक है। पाँवों से थोड़ा-बहुत हाथों का कार्य लिया जा सकता है और हाथों से पाँवों का, परंतु सिर और उदर से ऐसा संभव नहीं। कपाल में सुरक्षित मस्तिष्क से विचार तथा संतुलन, चाहे वहाँ तक किसी की पहुँच हो न हो, भुजाओं से शक्ति और रक्षण, उदर से वाणिज्य तथा कृषि और पाँवों से प्रगति अपेक्षित है। इन सब को मिलकर अपना-अपना कार्य करना होता है। इनके मध्य दुर्घटना से रक्षा का उपाय कौन नहीं चाहेगा? फलस्वरूप प्रगति होती रहनी चाहिए। अन्यथा साधन कीलित, कुंठित, बाधक, जरित, निपाती अथवा घर्षणशील हो जाएँगे। ऐसा है ज्ञान और उसकी निष्पक्षता। वेदों में व्यक्त मनुष्य के प्रति विश्वास स्वतंत्रता एवम् उदारता का दुरुपयोग होता रहा है। नए वर्ग, मत, पंथ या मजहब अस्तित्व में आते गए और सन्मार्ग बाधित होता गया। जितना विकास मनुष्य के हित में होना चाहिए था, उतना नहीं हो पाया। तो फिर हर्ज क्या है? यदि हम मस्तिष्क की योग्यता और वरीयता स्वीकार कर लें।

राजा द्वारा राजा को परास्त करने के अभिमान से सेना सहित लौटते हुए विश्वामित्र ने महर्षि वसिष्ठ के आश्रम-समीप वन में पड़ाव डाला। यह निरभिमान, निस्पृह तथा विद्वान ब्राह्मण गोत्र-श्रेष्ठ वसिष्ठ के व्यक्तित्व-जनित तेज एवं कीर्ति

* पी-6, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला-174 002, keshikantranade@gmail.com

का प्रभाव था। तत्काल वह उन्हें मिलने उनके आवास पर पहुँच गया। वसिष्ठ ने उसका स्वागत किया। सामान्य शिष्टाचार, औपचारिक तथा आध्यात्मिक वार्तालाप के पश्चात् अनुरोध किया कि वह उन्हें आतिथ्य का अवसर प्रदान करे। उत्तर में धन्यवाद व्यक्त करते हुए उसने कहा—'वह बड़े दल-बल के साथ है। उनसे इतने लोगों के खाने-पीने और रहने की व्यवस्था नहीं हो पाएगी। फिर कभी, आज वे उसे जाने की अनुमति दें! पुनः आग्रह-कारण कि सबके लिए यथेष्ट प्रबंध हो जाएगा। वह उत्सुकतावश रुक जाता है।

राजा और उसकी सेना को उपयुक्त पौष्टिक भोजन में दूध से तैयार व्यंजन प्रस्तुत किए गए, अपर्याप्त समय में जिनकी उसने उम्मीद न की होगी, ताकि उसे अनुभव हो कि उसने वशिष्ठ का आतिथ्य स्वीकार कर कोई भूल नहीं की है। यह सब एक राजा के लिए चमत्कार से कम नहीं था। कहाँ राज्य द्वारा संरक्षित आश्रम और कहाँ ऐसा भव्य आयोजन? विश्वामित्र के पूछने पर ब्रह्मर्षि ने सर्वमनोरथ दात्री कामधेनु की पुत्री नन्दिनी के अपने यहाँ सेवित होने का उल्लेख किया। प्रथम बार एक राजा को एक ऋषि के समक्ष न्यूनता की अनुभूति हुई। एतादृशी और चमत्कारी गौ राजा की संपत्ति होनी चाहिए। फिर क्या था? यह मानकर उसने उसको महर्षि से माँग लिया। वसिष्ठ ने विनम्रतापूर्ण व्यक्त कर दिया—''आत्मनिर्भरता और स्वाधीनता किसी स्तर पर लुटाई नहीं जा सकती।'' विश्वामित्र स्वयं और सैन्य समर्थन द्वारा गाय को मँगवाने में विफल रहा। सर्वसाधारण के मन में नंदिनी वसिष्ठ की शक्ति, ऋद्धि तथा सिद्धि का प्रतीक बन गई। वह वसिष्ठ की इच्छा के विपरीत आश्रम से बाहर जा कैसे सकती थी? राजहठ में विश्वामित्र अतिथि धर्म भूल गया। आमने-सामने के मुकाबले में गौ नंदिनी के जिधर देखो उधर फेन छोड़ते उस प्रतिरूपों ने राजा की समस्त सेना नष्ट कर दी। ब्राह्मणत्व के तेज से क्षत्र बल हार गया। क्षत्रिय-नृपति विश्वामित्र से ब्रह्मर्षि विश्वामित्र बनने की कथा यहीं से आरंभ होती है।

राजा विश्वामित्र ने, इतिहास में उसे गाधेय और कौशिक कहा गया है, पहले हिमालय जाकर कठिन तपस्या की। शिव से दिव्य शस्त्रास्त्र प्राप्त किए और सान्निध्य में उनके संचालन का ज्ञान लिया, लक्षित वशिष्ठ को प्रभावित अथवा पराजित करने में सफल न हो सका। वह समझ गया, क्षत्रिय की सत्ता ब्राह्मण के योगबल के आगे नगण्य है। तदुपरांत निर्णय किया कि वह ब्रह्मा की आराधना कर के ब्रह्मत्व प्राप्त करेगा। अब दक्षिण जाकर घोर तप किया और राजर्षि कहलाया, पर ईर्ष्या-द्वेष में शांति कहाँ?

इक्ष्वाकु वंश के नरेश सत्यव्रत ने इस राजर्षि को बताया कि वशिष्ठ ने उसके सशरीर स्वर्ग जाने की कामना अप्राकृतिक कहकर नकार दी है। उनके पुत्रों से निवेदन किया तो उन्होंने उसे चांडाल होने का शाप दे डाला। ब्राह्मण-विरोध के लिए इतना-सा बहाना पर्याप्त था। वह उसके लिए संदेह स्वर्गगमन का अनुष्ठान करने को तैयार हो

गया। उसमें सम्मिलित होने हेतु अन्य ब्राह्मणों के साथ वसिष्ठ और उनके पुत्रों को भी आमंत्रित किया गया। वे एक चांडाल के निमित्त इस प्रकार के कृत्य में उपस्थित हो कैसे सकते थे? वसिष्ठ-पुत्रों का इतना साहस। विश्वामित्र ने उन सबका वध कर दिया। अन्य भयभीत ब्राह्मण और पुरोहित उसके अनुष्ठान का हिस्सा बन गए। सत्यव्रत को इंद्र ने सदेह स्वर्ग में प्रवेश नहीं दिया, न देता लग रहा था, यह नैसर्गिक है ही नहीं और राजर्षि उसे नीचे आने नहीं दे रहा था। इतनी क्षमता उसमें थी। उस अधर में लटके हुए को त्रिशंकु की संज्ञा दे दी गई। ऐसा माना जाता है, विश्वामित्र ने सत्यव्रत के लिए वहीं पृथक् स्वर्ग का निर्माण कर दिया। तथापि राजर्षि की सामर्थ्य की एक सीमा होती है। वह अतुल्य ब्रह्मर्षि का पद अंगीकार करेगा। अतः अपना राज्य पुत्र को सौंपकर उसने पुनः दक्षिण जाकर घोर तपस्या की और ब्रह्मा जी से इच्छित वर का अधिकारी हो गया। सत्त्व के इस स्तर पर वशिष्ठ ने उसे उचित सम्मान दिया जिसकी उनसे उसने अपेक्षा की थी।

राजर्षि विश्वामित्र का व्यक्तित्व इतना दुर्बल नहीं था कि उसके संबंध में यह मान लिया जाए, ब्रह्मर्षि बनने के लिए एक समय वह नर-बलि देने को तैयार हुआ होगा। निःसंतान रहे राजा हरिश्चंद्र को विश्वामित्र के तपोबल से प्राप्त पुत्र बलि हेतु बारह वर्षोपरांत लौटाना था। समय आने पर राजा ने दरिद्र ब्राह्मण अजीगर्त से उसका बालक शुनःशेप मोल लेकर दे दिया। फिर जैसा होना चाहिए था, हुआ। शनि ने विश्वामित्र के यज्ञानुष्ठान की प्रक्रिया में भेद खोल दिया—'राजर्षि, पता लगा लो! जिस बालक की बलि दी जा रही है वह राजा हरिश्चंद्र का है या किसी और का? सत्यव्रत के पुत्र सूर्यवंशी ने संकल्प निभाया या नहीं?' तात्पर्य स्पष्ट है, इस समय तक हरिश्चंद्र न सत्यवादी था, न सदाचारी और कर्तव्यनिष्ठ। उसे विश्वामित्र तथा शनि ने विवश और उत्प्रेरित किया। ऐसे में ऐक्ष्वाकव राजा का मान कहाँ रह जाता है? जितना प्रचारित हुआ सत्य की परीक्षा में उत्तीर्ण। अवश्य, विश्वामित्र के मन में ब्रह्मर्षि-पद के लिए सम्मान, कामना और आकर्षण था। बदले में वह कुछ भी कर सकता था, किंतु निकृष्ट आचरण तथा अधम कृत्य नहीं। एतद् अंतर्कथा का आरंभ विकल्पित है। यथार्थ में ऐसा हुआ, नहीं लगता। जिस राजा का व्यवहार आदर्श हो गया हो कथित क्षेपक उसके स्तर को निम्न प्रदर्शित करता है। यह कहना आवश्यक एवम् तर्कसंगत लगता है। इस प्रकार के मुहूर्त की कैसे नक्षत्र-ग्रहों वाली रात रही होगी जिसके स्वप्न में दान दिया राज्य हरिश्चंद्र प्रातः अनुष्ठायी विश्वामित्र को सौंप देता है। फिर क्या हुआ होगा? सभी जानते हैं, रानी तारामती को काशी नगर श्रेष्ठी के यहाँ दासी का कार्य करना पड़ा और स्वयं राजा को चांडाल का दासत्व ग्रहण कर हाथ में डंडा लिये श्मशान के द्वार पर खड़े होना। दक्षिणा कारण भी रही। ऐसी दयनीय परिस्थिति में पुत्र रोहिताश्व की सर्पदंश से मृत्यु हो जाती है। कृशकाय पत्नी किसी प्रकार शव लेकर श्मशान पहुँचती है। सरपंच के आदेशानुसार दाह-कर चुकाना होगा। शव को लपेटने

के बाद बची साड़ी में से और आधी देने को वह जैसे ही अपने कंधे के छोर से पकड़ती है, वरद हाथ उठाए विश्वामित्र का पदार्पण होता है। विभ्रम और विपर्याय की अवधि समाप्त हो जाती है। वस्तुतः दान होता ही ऐश्वर्य के निमित्त है। जो होना चाहिए और जो नहीं होता, इन दोनों के मध्य अवचेतन को कार्य करने दिया जाए तो जीवन में शेषप्रद समस्या न आए।

संख्या, शरीर और स्वार्थ के बल से बुद्धि का विरोध आज भी होता है। यदि हम इसका आशय समझते हों, अन्वेक्षण या अतिक्रमण न करें तो कह सकते हैं कि प्रमेय कथानक मस्तिष्क-विरोध की प्रथम एवं प्रामाणिक घटना थी। आप्त ज्ञान से मंडित कौशिक विश्वामित्र, ब्रह्मषि विश्वामित्र कहलाए। एक क्षत्रिय चाहे राजा हो, स्वामी शील प्रभुपाद गीता के द्वितीय अध्याय के सातवें श्लोक में से श्रेयस्कर की व्याख्या करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं : ''य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माँल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः'' ब्राह्मण तथा ऋषि की तुलना में श्रेष्ठ नहीं हो सकता। इस सम्मान को प्राप्त करने के वास्ते महावीर और गौतम बुद्ध ने राजपाट त्याग दिया और साधना से ज्ञान अर्जित किया। उनके पीछे अनुकर्ताओं ने तद् आधार पर मजहबी या पंधक संगठन बना लिये। उनकी संततियाँ सत्ता के उपकरण बनती चली गईं और मनुष्य का भविष्य लोक-परलोक की अटकलबाजियों में उलझकर रह गया।

इस समय तक ब्राह्मण, ऋषि तथा मुनि विवेक के प्रतिनिधि थे। बड़े-बड़े राजा और सम्राट् उनके समक्ष नतमस्तक हो जाते, सिंहासन छोड़ देते उनके स्वागत-सत्कार में। विश्व के प्रथम और प्रमुख चारों ग्रंथों को इसीलिए वेद कहा गया है और मस्तिष्क को ब्राह्मण। प्रारंभ से मनुष्य ने संपत्ति की अपेक्षा ज्ञान को अधिमान दिया। संपत्ति ज्ञान से उपार्जित होती है और श्रम ज्ञान से सार्थक। वेद अपौरुषेय है।

पूर्वोत्तर भारत : लोक-भाषाएँ और लोक-साहित्य (संरक्षण का प्रश्न)

हेमराज मीणा ''दिवाकर''

पूर्वोत्तर भारत की अधिसंख्य जनजातीय बोलियाँ और भाषाएँ ऐसी हैं जो केवल वाचिक परंपरा के अंतर्गत आती हैं। कुछ मुख्य जनजातीय भाषाओं के पास लिपि रही भी होगी किंतु उसके संकेत और प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं। लिपि के अभाव में इन लिपिविहीन जनजातीय भाषाओं का लोक-साहित्य (वाचिक साहित्य) धीरे-धीरे समाप्त हो गया और रहा-सहा संरक्षण के अभाव में लुप्त हो रहा है। आज से सौ वर्ष पूर्व इस दिशा में पूर्वोत्तर के लोक-साहित्य के संचयन-संकलन और संपादन का कार्य अंग्रेज मिशनरियों तथा कुछ अन्य ईसाई पादरियों द्वारा रोमन लिपि के माध्यम से हुआ था। इन मिशनरियों ने पूर्वोत्तर भारत की जनजातीय बोलियों-भाषाओं को कड़ी मेहनत कर सीखा और इन जनजातीय भाषाओं के लोक-साहित्य (लोकगीत, लोककथा, लोकोक्ति आदि) को रोमन में लिपिबद्ध किया। स्थानीय जनजातीय समुदायों की भाषा सीखकर वे जनजाति वर्ग के लोगों से संवाद स्थापित करना चाहते थे। लोक-साहित्य के संचयन द्वारा वे जनजातीय समुदायों के मन के भावों को पढ़ना चाहते थे। उनका असली उद्देश्य धर्म का प्रचार-प्रसार था। किसी भी समुदाय को वश में करने के लिए, अपना बनाने के लिए उसकी बोली-भाषा सीखकर उसी की बोली-भाषा में व्यवहार किया जाता है। इस कार्य-शैली में मिशनरी बहुत पटु थे। बोली-भाषा ही हमारी आंतरिक संवेदना को झंकृत करती हैं। लोक-साहित्य के संकलन की दिशा में उनके कार्य को कुछ लोगों ने और आगे बढ़ाया, क्योंकि लोक-साहित्य द्वारा ही हम लोक-जीवन को जान सकते हैं। नागालैंड भाषा परिषद कोहिमा का गठन कर प्रोफेसर ब्रजबिहारी कुमार ने एक ऐतिहासिक कदम उठाया था। पूर्वोत्तर की जनजातीय

पूर्व क्षेत्रीय निदेशक/जनजातीय भाषाविद् प्रोफेसर, केंद्रीय हिंदी संस्थान, गुवाहाटी केंद्र-781003 (असम), मो. 9706543644

भाषाओं के संरक्षण का यह सबसे बड़ा प्रयास था। देश के अन्य अंचलों के लोक-साहित्य की परंपरा वाचिक परंपरा द्वारा जीवित बनी रही।

संभवतः साहित्य का प्रथम रूप लोक-कथाओं और लोकगीतों में ही सहजता से प्रकृति के मनोरम सौंदर्य के मध्य उन जनजातीय लोगों ने अपने भावों को प्रकट किया होगा।

प्रकृति की निकटता और अपने जीवन के लंबे अनुभवों को उन्होंने सौंदर्य पूर्ण रूप में लोकगीत के रूप में पिरोया होगा। अपने संघर्ष पूर्ण जीवन के अनुभवों को लोककथा के रूप में कहा-सुनाया होगा। और उसके वे सहज गीत लोकगीत बन गए और उसके पारंपरिक अनुभव लोककथा बन गए। आज यह परंपरा हमसे और जनजातीय वर्गों के लोगों से छिन चुकी है। अब पूर्वोत्तर भारत का लोक-जीवन भी अपनी पारंपरिक लोक-परंपरा से कटता जा रहा है। पूर्वोत्तर भारत में जितने भी जनजातीय आदि समुदाय हैं सबके पास अपनी लोककथा, लोकगीत, लोकोक्ति और लोक देवी-देवता हैं। अधिकांश लोककथाएँ काल्पनिक किंतु प्रेरणाप्रद हैं। पूर्वोत्तर भारत में स्थानीय स्तर पर पाँच सांविधानिक भाषाओं का प्रयोग होता है – असमिया, बोडो, मणिपुरी, नेपाली तथा बाँग्ला।

इन पाँचों भाषाओं में बोडो सांविधानिक जनजातीय भाषा है। भाषा वैज्ञानिक और मानव शास्त्र के आधार पर मणिपुरी (मैते) को भी जनजाति वर्ग की भाषा माना जा सकता है। बोडो और नेपाली की लिपि देवनागरी है। मणिपुरी की लिपि मैतैमयेक है तथा असमिया और बाँग्ला की अपनी लिपि है जो असमिया और बाँग्ला के नाम से ही जानी जाती है। त्रिपुरा में त्रिपुरी के लिए कॉकबरक कक-बरक नामक लिपि के विकास पर कार्य चल रहा है तथा अंगामी, आदि पाँच नागा भाषाओं को मिलाकर तेनिदिए भाषा बनाई जा रही है। तेनिदिए के लिए रोमन लिपि को अपनाया गया है। नागालैंड की संपर्क भाषा 'नागामीज़' तथा मिज़ोरम की 'मिजोउ' भाषा की लिपि भी रोमन है। रोमन लिपि में जनजातीय भाषाओं को व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। देवनागरी लिपि के पास जनजातीय भाषाओं की ध्वनि व्यवस्था को व्यक्त करने की क्षमता है। दुर्भाग्य से भाषा और लिपि का प्रश्न धर्म से जोड़ दिया गया है। इस संकीर्ण सोच ने जनजातीय भाषाओं, बोलियों और उनमें प्रचलित पारंपरिक वाचिक साहित्य को बहुत नुकसान पहुँचाया है। यदि बड़े स्तर पर अच्छे प्रयास किए जाएँ तो हम लिपिविहीन जनजातीय भाषाओं को सर्वमान्य लिपि दे सकते हैं। संताली और बोडो का जनजातीय लोक-साहित्य देवनागरी लिपि अपनाने के कारण अपनी नई और सार्थक पहचान बना सकने में सफल हुआ है।

स्वतंत्रता सेनानी पद्मभूषण रानी गाइदिन्ल्यू के कोहिमा स्थित आवास से जादोनांग नामक लिपि मिली है। संभवतः मणिपुर और नागालैंड की नागा भाषाओं के लिए प्राचीनकाल में जादोनांग नामक लिपि प्रचलित रही होगी। लिपि प्रयोग की

दृष्टि से अरुणाचल प्रदेश की मोंपा जनजातीय भाषा के लिए तिब्बती लिपि (भोटिया) का प्रयोग होता है। सिक्किम राज्य की प्राचीनतम भाषा लेप्चा की लिपि भी तिब्बती है। कुछ लोग इसे भोटिया या भूटिया भी कहते हैं। हमारे पड़ोसी देश भूटान में भोटिया भाषा और लिपि का प्रयोग होता है। तिब्बती एक संपन्न और समृद्ध भाषा है।

पूर्वोत्तर भारत की कोशों भाषाओं के एवं लोक-साहित्य को अनूदित और भाषांतरित रूप में सामने लाने के लिए पहला बड़ा प्रयास डॉ. ब्रजबिहारी कुमार ने कोहिमा में नागालैंड भाषा परिषद् की स्थापना कर किया। उन्होंने सौ से अधिक ग्रंथों का प्रकाशन कर पूर्वोत्तर की भाषाओं एवं लोक-साहित्य से हमें परिचित कराया। उनके अधूरे कार्य को नागालैंड भाषा परिषद्, कोहिमा को संरक्षण प्रदान कर आगे बढ़ाया जा सकता है। नागालैंड भाषा परिषद्, कोहिमा द्वारा प्रकाशित पूर्वोत्तर भारत की लोक-कथाओं तथा शब्दकोशों को पुनः संपादित कर प्रकाशित किया जा सकता है।

इस दिशा में आत्माराम एंड संस, दिल्ली आदि द्वारा प्रकाशित पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न राज्यों की लोक-कथाओं के संकलनों का अवलोकन भी अनिवार्य है। कुछ स्थानीय लोककथा और लोकगीत संकलनकर्ताओं के प्रयास की ओर भी हमारा ध्यान जरूरी है। इस दिशा में पूर्वोत्तर भारत का साहित्यिक-सांस्कृतिक झरोखा हिंदी जगत के समक्ष केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा के पूर्वोत्तर स्थित शिलांग केंद्र से 'समन्वय-पूर्वोत्तर' नामक त्रैमासिक पत्रिका के प्रकाशन से प्रस्तुत किया गया। गत तीन वर्ष से यह प्रयास भी ठंडा पड़ा हुआ है। 'समन्वय पूर्वोत्तर' के 24 अंकों का प्रकाशन पूर्वोत्तर भारत के लोक-साहित्य को उजागर करने का एक ऐतिहासिक कदम माना जाएगा। देश की अन्य साहित्यिक तथा स्थानीय साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ भी इस दिशा में कुछ योगदान करती रही हैं। 'युमशकैश (इंफाल), 'लटचम' (इंफाल) तथा 'पूर्वोत्तर भारती दर्पण' (कोहिमा), महिप (इंफाल), मेघालय दर्पण (शिलांग) इस दृष्टि से उल्लेखनीय पत्रिकाएँ हैं। 'पूर्वांचल प्रहरी', 'दैनिक पूर्वोदय', 'सेंटिनल' तथा 'प्रातः खबर' जैसे हिंदी दैनिक समाचार-पत्र भी पूर्वोत्तर भारत की कुछ लोक-साहित्य विषयक रचनाओं को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते रहे हैं। श्री सी. कामलोवा, डॉ. राल्वे तथा प्रो. जिनी (आईजोल) भी इस दिशा में सक्रिय हैं तथा मिजो लोक-साहित्य तथा मिजो भाषा को हिंदी संसार से जोड़ रहे हैं।

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया द्वारा प्रकाशित ''पूर्वोत्तर की आदिवासी कहानियाँ'' (संकलन एवं संपादन—रमणिका गुप्ता), 'पूर्वोत्तर : आदिवासी सृजन, मिथक एवं लोकथाएँ (संपादन—संकलन—रमणिका गुप्ता) भारत की लोक-कथाएँ (बाईस भारतीय भाषाओं की चुनी हुई लोक-कथाएँ)—(संकलन-संपादन—ए.के. रामानुजन) इस दिशा में उठाया गया एक उल्लेखनीय कदम है।

इन कृतियों में शेरदुकपेन, बोडो, कार्बी, तीवा, मैतई, मिजो, खासी, तेनीदिए,

कॉकबरक, लेप्चा, आपातानी, राभा, गारो, जयंतिया, अंगामी, पाइते, आपातानी आदि की जनजातीय लोककथाएँ अनूदित रूप में प्रस्तुत की गई हैं। केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा का 'मणिपुरी लोक-कथाएँ' तथा 'बोरो-लोककथाएँ' नामक ग्रंथ अच्छे लोककथा संकलन हैं।

भाषायी दृष्टि से स्थानीय विश्वविद्यालयों में बोडो, खासी, मिजो, विभाग स्थापित हो चुके हैं। जनजातीय लोक-साहित्य का शोध की दृष्टि से महत्त्व बढ़ रहा है। पूर्वोत्तर की जनजातीय भाषाओं में कोश निर्माण तथा प्रकाशन का कार्य हो रहा है। अंगामी, गारो, खासी, लुशाई, मिजो, निशी-लोथा, बोडो, कॉकबरक आदि के कोश प्रकाशित हो चुके हैं। पूर्वोत्तर भारत जनजातीय भाषा अकादमी की स्थापना से हम यह कार्य और भलीभाँति कर सकेंगे। पूर्वोत्तर के लोक-साहित्य को संरक्षण की विशेष जरूरत है। जनजातीय भाषाविदों और जनजातीय साहित्य के प्रति गहन अभिरुचि रखने वाले अनुसंधाताओं को इस दिशा में यथाशीघ्र ठोस धरातल पर खड़े होकर निष्ठापूर्वक मिशनरी भाव से सोचना चाहिए तथा लक्ष्य कार्यान्वयन प्रारंभ कर देना चाहिए।

स्थानीय सभी केंद्रीय विश्वविद्यालयों में जनजातीय भाषा अध्ययन केंद्रों की भी स्थापना प्रारंभ हो जानी चाहिए। जनजातीय भाषा संरक्षण का कार्य एक राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य है। लोक-साहित्य का संकलन, संपादन, रूपांतरण कोश निर्माण आदि का कार्य कर हम खोती जा रही पारंपरिक शब्द-संपदा, ज्ञान-संपदा, संवेदना और संवाद की परंपरा को संरक्षण प्रदान कर सकते हैं। लोक भाषा संरक्षण का दायित्व सभी भाषा-प्रेमियों और भाषा-प्रतिष्ठानों का है। सभी संवेदनशील भाषाविदों द्वारा इस दिशा में सरकार का ध्यान आकर्षित करना भी जरूरी है।

पाठालोचन : प्रकृति एवं प्रविधि

हितेन्द्र कुमार मिश्र*

पाठालोचन मूलतः 'पाठ' और 'आलोचन' दो शब्दों के योग से निर्मित हुआ है। तात्पर्य यह है कि यह 'पाठ' की आलोचना है। 'पाठ' मूलतः संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका प्रयोग संज्ञा, पुल्लिंग शब्द के रूप में हिन्दी भाषा में होता है। शब्दकोश के अनुसार इसका अर्थ पढ़ने की क्रिया या भाव से लगाया जाता है। अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण पढ़ने की सामग्री या सबक को भी 'पाठ' कहा जाता है। संस्कृत शास्त्र की परम्परा में पारायण को भी 'पाठ' की संज्ञा से ही जाना जाता है। इस प्रकार समवेत रूप में 'पाठ' वह संस्कृत संज्ञा पुल्लिंग शब्द है, जो किसी पठनीय अंश के पारायण के अर्थ को ध्वनित करता है। व्यंजना में 'पाठ' का अर्थ सबक, शिक्षा या उपदेश के अर्थ में भी लगाया जाता है।

पाठालोचन में 'पाठ' के साथ संयुक्त शब्द 'आलोचन' अर्थात् आलोचना है। आलोचना शब्द की निष्पत्ति 'लोचन' शब्द से हुई है। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी ने 'लोचन' का विकास 'लोच' धातु में ल्युट (अन्) प्रत्यय के योग से माना है। 'लोचन' का अर्थ देखने से लगाया जाता है। 'आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम्' अर्थात् किसी कृति का सम्यक् अवलोकन या निरीक्षण ही आलोचना है। 'पाठ' से संयुक्त यह आलोचना किसी 'पाठ' के सम्यक् निरीक्षण या परीक्षण के उपरान्त उसके त्रुटिरहित प्रस्तुति की ओर संकेत करती है।

डॉ. गोविन्द नाथ राजगुरु 'पाठ' को रचनाधर्मिता का दृश्यमान रूप मानते हुए लिखते हैं कि ''रचयिता के मानसिक तथा बौद्धिक सूक्ष्मतम् प्रत्ययों एवं उनकी विभिन्न कोटिक सघन अनुभूतियों की—वस्तुतः रचयिता के अशेष अन्तस् की प्रतिकृति भी 'पाठ' ही प्रस्तुत करता है।''[1] पाठ' का महत्त्व इसलिए भी है कि रचनाकार के साथ-साथ अपने सम्पूर्ण समय का जीवन्त एवं प्रामाणिक दस्तावेज होता है। पाठालोचन के लिए

* डॉ. हितेन्द्र कुमार मिश्र, एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-793022

पाठानुसन्धान, पाठविज्ञान और पाठसम्पादन शब्द का भी व्यवहार किया जाता है। पाठसम्पादन का अभिप्राय पाठ की त्रुटिरहित प्रस्तुति से है तो पाठविज्ञान 'पाठ' के वैज्ञानिक अध्ययन को प्रस्तुत करता है। पाठानुसन्धान 'पाठ' के शुद्धतम रूप के अनुसन्धान से है। समग्रतः पाठालोचन, पाठानुसन्धान, पाठविज्ञान या पाठसम्पादन सभी पाठ के महत्त्व को रेखांकित करते हुए उसके संशोधन या उसके शुद्धतम रूप की प्रस्तुति के ओर संकेत करते हैं।

वस्तुतः पाठालोचन की आवश्यकता विकृत 'पाठ' के शुद्धिकरण के लिए है। कृतिकार की मूल कृति में आए दोष के निवारण में इसकी महती आवश्यकता है। पाठ का सम्बन्ध भाषा से है और भाषा मनुष्य की सर्वोत्तम खोजों में से एक है। भाषा मनुष्य के भावों एवं विचारों की संवाहिका का नाम है। इस भाषा-व्यवहार के दो पक्ष हैं—एक उसका वस्तु पक्ष है, जिसे शब्दों के द्वारा निर्मित करते हैं तो दूसरा उसका भाव पक्ष है, जिसे 'अर्थ' कहते हैं। 'अर्थ' प्रतीतिपरक होने के कारण शब्द पर ही निर्भर होता है। इसलिए भाषिक संरचना में उसका सर्वाधिक महत्त्व है। भाषा में 'अर्थ' से 'अनर्थ' उसके इसी लिखित या शाब्दिक रूप में त्रुटि के कारण होता है। इसलिए इसकी शुद्धता परम आवश्यक है। पाठालोचन अपनी विभिन्न पद्धतियों के माध्यम से इसी पाठ के शुद्धि का प्रयास करता है।

पाठालोचन की आवश्यकता कृतियों में 'पाठ' के संशोधन के लिए है। हिन्दी के प्राचीन कवियों, जिनके प्रामाणिक पाठ की जगह अवान्तर पाठ उपलब्ध थे की कृतियों का प्रामाणिक 'पाठ' प्रस्तुत करना इसका प्राथमिक उद्देश्य है। भारत में छापेखाने का विकास 16वीं शताब्दी के आस-पास दिखाई देता है। गोवा, मुम्बई, मद्रास और कलकत्ते के रास्ते धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु छापेखाने की भारत के विभिन्न हिस्सों में स्थापना हुई। इन छापेखानों के स्थापना के पूर्व सम्पूर्ण वाङ्मय हस्तलिखित या मौखिक रूप में विद्यमान था। हस्तलिखित या मौखिक रूपों में विकार की सम्भावना बराबर बनी रहती है। हिन्दी साहित्य का अधिकांश इसी रूप में सदियों तक सुरक्षित रहा। ऐसे में उनके शुद्ध रूप को प्रस्तुत करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है।

कबीर हिन्दी साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण कवि हैं। कबीर ने स्पष्ट घोषित किया था कि 'मसि कागद छुयो नहीं, कलम गह्यो नहीं हाथ', अर्थात् उन्होंने अक्षरज्ञान के प्रति अपनी अनभिज्ञता को सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया। उनकी स्पष्ट घोषणा थी कि 'कहत कबीर सुनौ भाई साधो!' अर्थात् मैं कहता हूँ साधु जनों सुनो! कबीर केवल कहते हैं सुनते या लिखते नहीं हैं। कबीर ने तो यह बात स्पष्ट रूप से घोषित किया किन्तु कबीर के अलावा भी अनेक सन्तों, कवियों के अक्षरज्ञान रहित होने की धारणा को विद्वत्जनों ने स्वीकार किया है, जिनके महत्त्वपूर्ण साहित्य का संकलन एवं लेखन दूसरे प्रतिलिपिकारों ने प्रस्तुत किया। इन दूसरे प्रतिलिपिकारों द्वारा प्रस्तुत

साहित्य को विभिन्नमत पोषित पन्थों, मठों एवं गद्दियों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। अर्थात् मूल पाठ से प्रस्तुत पाठ के बीच अनेकशः दूरियाँ बनती गईं। पाठ का अन्तर समान रूप से उन रचनाओं में भी हुआ, जो जनता के अधिक करीब थीं। जनपक्षधरता के कारण जन में उसकी उपस्थिति और जनता के विभिन्न मनोभावनाओं के कारण उनमें अन्तर स्वाभाविक रूप से आता गया।

'प्राचीनकाल में अधिकांशतः साहित्यिक रचनाएँ अलिखित होती थीं। वंश-परम्परा में लोग एक-दूसरे से सीखते एवं मौखिक रूप से स्मरण कर लेते थे। ऐसी दशा में यदि उक्त मौखिक रचनाओं को श्रवण कर अथवा स्मरण शक्ति पर बल लगाकर हम लिखित अभिव्यक्ति देने का प्रयास करें, तो निश्चित ही अनेक स्थलों पर शब्दों, वर्ण-विन्यास, मात्रिक गणना आदि में मूल से भिन्नता आ जाएगी।'[2] हिन्दी के अनेक ग्रन्थ लम्बे समय तक मौखिक परम्परा में थे। उनके कथन-श्रवण और लिप्यन्तरण की प्रक्रिया में दोष की प्रविष्टि स्वाभाविक है। विभिन्न राजाओं, सभा-समितियों, अखाड़ों, मठों और मन्दिरों द्वारा तैयार कराई गई प्रतिलिपियों में इस प्रकार के दोषों की भरमार दिखाई देती है। इस प्रकार के दोष किसी भी कृति और उसके साथ अपने समय की गलत तस्वीर भी प्रस्तुत करते हैं। ऐसे में पाठ का शुद्ध रूप प्रस्तुत करना एक गम्भीर अनुसन्धान का विषय है।

'पाठ' के साथ संयुक्त आलोचना पाठालोचन के निहितार्थ को स्पष्ट रूप से संकेतित करती है। हिन्दी अनुसन्धान ने भी 'पाठ' की शुद्धता पर सर्वाधिक जोर दिया है। हिन्दी साहित्य में पाठ-दोष की समस्या को रेखांकित करते हुए डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'दुर्भाग्यवश हिन्दी के प्राचीन साहित्य के सुसम्पादित ग्रन्थ बहुत कम हैं। मुनि जिनविजय जी, डॉ. माता प्रसाद गुप्त आदि थोड़े से विद्वान दत्तचित्त अवश्य हैं और उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य भी किए हैं—परन्तु इस दिशा में कार्य चलाने का बहुत-सा क्षेत्र पड़ा हुआ है। हस्तलेखों का संग्रह, उनके पाठभेदों का संकलन, पाठ विकृतियों के आधार पर उनका वर्गीकरण और शुद्ध पाठ का उद्धार बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है।'

उपलब्धता की दृष्टि से पाठ के प्रायः दो भेद किए जा सकते हैं—

1. मौखिक
2. लिखित

पाठ-दोष की समस्या प्रायः दोनों प्रकार के उपलब्ध स्वरूप में समान रूप से पाई जाती है। मौखिक परम्परा में पाठ-दोष का पता पाना और उसका शुद्ध रूप प्रस्तुत करना पाठालोचक के ज्ञान की बड़ी परीक्षा है। अब अगर आल्हखंड को ही लें तो उसके इतने पाठान्तर उपलब्ध हैं कि सरलतापूर्वक किसी पाठ को शुद्ध कह पाना अत्यन्त दुष्कर है।

इसी प्रकार लिखित पाठ के दोष को भी देखा जा सकता है। प्रकाशन के भेद से इसके दो रूप होते हैं—

क. प्रकाशित

ख. अप्रकाशित।

प्रकाशित सामग्री के पाठ-दोष को दूर करने के लिए सामग्री की समकालीन भाषा के साथ-साथ रचनाकार की रचना-प्रवृत्ति, उसकी भाषा और उस समय के सन्दर्भ का ज्ञान अध्येता के लिए परम आवश्यक है। रचना की टीका, रचनाकार पर टीकाकारों की टिप्पणियों के साथ अन्य भाषाओं में हुए अनुवाद-कार्य भी पाठालोचन में अत्यन्त सहायक होते हैं। 'भण्डारकर शोध-संस्थान, पुणे में महाभारत के पाठ-निर्धारण में जर्मनी तथा तेलुगु के प्राचीन अनुवादों से अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है। आलोच्यग्रन्थ से सम्बद्ध समीक्षात्मक सामग्री, उसके समय, कलात्मकता, भाषा आदि का परिचय देती है।'[3]

अप्रकाशित सामग्री का पाठशोध भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। अप्रकाशित सामग्री अपनी उम्र के साथ-साथ मनुष्य के शरीर की तरह जीर्ण होती चली जाती है। ऐसे में खंडित पाठ का शोधन बहुत कठिन कार्य है। राउलवेल के 'पाठ' का निर्धारण डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने शिलालेख के आधार पर किया है। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने रोड कवि की इस रचना के पाठ संशोधन के साथ-साथ उसका समय भी 11वीं शती का स्थिर किया। हिन्दी में अनेक मेधासम्पन्न अनुसन्धित्सुओं ने अनेक दुर्लभ और अप्रकाशित ग्रन्थों का पाठसम्पादन और प्रकाशन किया है।

'पाठ' की विविधता ही पाठालोचन का प्रमुख कारण है। यह विविधता प्रतिलिपिकारों द्वारा या मौखिक परम्परा में कहने-सुनने में आगत दोषों के कारण उत्पन्न होती है। डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा का मानना है कि 'पाठानुसन्धान की आवश्यकता तब पड़ती है, जब कृतिकार की स्वहस्तलिखित मूल पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं होती तथा समकालीन या परवर्ती प्रतिलिपिकारों के द्वारा तैयार की गई मूल पाण्डुलिपि की प्रतिलिपियाँ ही प्राप्त होती हैं। आदर्श प्रतिलिपि वही मानी जाती है, जो मूल पाण्डुलिपि की अक्षरशः शुद्ध नकल हो।'[4] अर्थात् 'मच्छिका स्थाने मच्छिका' ही आदर्श 'पाठ' का मापक है। 'पाठ' निरूपण में निरूपक को न कुछ जोड़ने का अधिकार है और न ही कुछ घटाने का। किन्तु अनेक कारणों से ऐसा नहीं हो पाता। 'पाठ' में विकृतियाँ स्वभावतः समाविष्ट हो ही जाती हैं। पाठ में आनेवाले इन दोषों को डॉ. एस. एम. कत्रे ने अपनी पुस्तक Introduction to Indian Textual Criticism[5] में मुख्यतः तीन प्रकार के दोषों में विभाजित किया है—एक विभ्रान्तियाँ (Confusion), दूसरा लोप (Omission), और तीसरा वृद्धि (Addition)। कत्रे ने इस विभाजन को इन तीनों भेदों के अनेक उपभेदों के माध्यम से विस्तारपूर्वक समझाने का प्रयास किया है। किन्तु पाठ-दोष के कारणों का अध्ययन करने पर कत्रे का विभाजन पाठ-दोष को पूर्ण रूप से व्याप्त नहीं कर पाता। 'पाठ' में आनेवाले इन दोषों को आचार्यों ने अनिच्छित और इच्छित दो वर्गों में विभाजित कर परखने की कोशिश की है।

अ. अनिच्छित पाठ-दोष : अनिच्छित कारणों से भी पाठ में दोष समाहित हो जाता है। अनिच्छित कारण वे कारण हैं तो प्रतिलिपिकार की इच्छा के विपरीत भी पाठ में समाहित हो जाते हैं। अनिच्छित पाठ-दोष प्रायः अज्ञानवश या प्रमादवश पाठ में समाहित होते हैं।

अज्ञान प्रतिलिपिकार की दृष्टि से नहीं, बल्कि दूसरे प्रतिलिपिकार या अध्येता की दृष्टि से होता है। इस कारण से भाषा एवं भाव सम्बन्धी अनेक दोष पाठ में समाहित हो जाते हैं। इन दोषों की दिशाएँ प्रायः भाषिक अवयवों वर्तनी, पद एवं रचना अवयव छन्द में पाई जाती हैं। इन दोषों के पीछे मात्र लिपिकार का अज्ञान ही प्रमुख कारण होती है।

प्रमाद ज्ञानी लोगों में प्रायः ज्ञान के सहजात रूप में विद्यमान होता है, किन्तु कुछ ज्ञानी लोग इसकी पहचान कर लेते हैं और अपने पर इसे प्रभावी नहीं होने देते। ज्ञानी लोगों का यह प्रमाद पहचान पाना अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि ज्ञानी अपनी प्रत्येक स्थापना के पीछे एक ठोस तर्क रखता है। 'पाठ' प्रतिलिपिकारों के 'पाठ' में यह प्रमादजनित दोष 'पाठ' में आगम, लोप और विपर्यय के रूप में प्रमुखतः विद्यमान होता है। इस आगम, लोप और विपर्यय का आशय दूषित पाठ के आगम, लोप और विपर्यय से है।

आ. इच्छित पाठ-दोष : पाठ-दोष का दूसरा प्रमुख भेद इच्छित पाठ-दोष है। यह दोष प्रतिलिपिकार की इच्छा से ही 'पाठ' में प्रविष्ट होता है। इसके तीन प्रमुख आधार होते हैं—एक परिवर्तन की प्रवृत्ति, दूसरे ज्ञानाधिक्य का अहंकार और तीसरा प्रक्षेप। परिवर्तन की प्रवृत्ति प्रतिलिपिकार के ज्ञान के दबाव में आकार ग्रहण करती है। ज्ञानाधिक्य का अहंकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में घातक होता है। पाठालोचन के क्षेत्र में भी यह घातक दोष उत्पन्न करता है। 'राउस' के स्थान पर 'रासो', 'देख्या' के स्थान पर 'देखा', 'कहु सो बात जेहँ होइ मिरावा' के स्थान पर 'कहु सो बात जेहँ होइ मिलावा' लिख देते हैं। वे समझते हैं कि आधुनिकीकरण की इस चेष्टा से दुर्बोधता दूर होती है, किन्तु वे यह नहीं समझते कि ऐसा करना मूल कृति के साथ अन्याय है और प्रतिलिपिकार के रूप में अनधिकार चेष्टा है।''[6] इसी प्रकार इच्छित पाठ-दोष का तीसरा कारण प्रक्षेप है। यह प्रक्षेप 'पाठ' में प्रतिलिपिकार की किसी निहित मंशा के कारण ही आता है। चाहे वह तत्कालीन समय के सुशासन आदि को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से समाहित किया जाता हो चाहे अपने मत, पन्थ, सम्प्रदाय से रचना और रचनाकार के समर्थन के लिए किया जाता हो। प्रक्षेप के कारण एक ही रचना प्रायः विरोधी रूप में भी उपस्थित होती दिखाई देती है। कहीं-कहीं अवान्तर कथाओं का दोष उसके मूल स्वरूप को खंडित कर देता है। इसलिए प्रक्षेप पाठालोचन का सर्वाधिक गम्भीर दोष है।

इस प्रकार देखा जाए तो पाठ-दोष के विभिन्न कारण 'पाठ' को कुपाठ बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते हैं। कुपाठ को सुपाठ में प्रस्तुत करना पाठालोचक के लिए

एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। हिन्दी साहित्य में 'पाठ' संशोधन के क्षेत्र में विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं यथा—नागरी प्रचारिणी सभा, रॉयल एसियाटिक सोसाइटी बंगाल, वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, देश-भर में स्थापित राष्ट्रभाषा प्रचार सभाएँ, विश्वविद्यालय और उनके अलावा जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, लाला भगवानदीन, डॉ. श्यामसुन्दर दास, डॉ. रामकुमार वर्मा, आ. रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, डॉ. पारसनाथ तिवारी, आ. परशुराम चतुर्वेदी, आ. नन्ददुलारे वाजपेयी, आ. किशोरी दास वाजपेयी, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल एवं डॉ. कन्हैया सिंह आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इन आचार्य पाठालोचकों द्वारा अपनाई गई पाठालोचन की प्रविधि से पाठालोचन के निम्नलिखित आयाम स्थिर होते हैं—

1. पाठ संकलन
2. पाठ निर्वाचन
3. पाठ सम्पादन
4. पाठगत आलोचना
5. पाठ प्रकाशन।

1. पाठ संकलन : पाठालोचन भी एक प्रकार का अनुसन्धान है, जो 'पाठ' के संकलन से लेकर उसके प्रकाशन तक वैज्ञानिक रूप से सम्पन्न होता है। इसलिए पाठालोचन का प्रथम प्रश्न है कि पाठालोचन किसका? इसलिए प्रथमतः तो हमें उस पाठ का संकलन करना होगा, जिसमें पाठ का शोधन करना है। दूसरा प्रश्न यह है कि पाठ-शोध क्यों? क्योंकि द्वितीयक, तृतीयक 'पाठ' भी उपलब्ध हैं, जो अपनी प्रामाणिकता को स्वयं सन्दिग्ध करते हैं। इसलिए पाठालोचन के क्षेत्र में पहला चरण 'पाठ' संकलन का है। कृति के विभिन्न पाठों का संकलन। कृति के ये विभिन्न पाठ मौखिक, लिखित, प्रकाशित, अप्रकाशित चाहे जैसे हों, कृति के पाठालोचन में अत्यन्त सहायक होते हैं। मौखिक परम्परा से प्राप्त कृति का लिप्यन्तरण भी 'पाठ' संकलन के अन्तर्गत ही आता है। आज के समय में भी बहुत-सी कृतियाँ मौखिक रूप में विद्यमान हैं। इसलिए उनका संकलन आवश्यक है। लिखित सामग्री के प्रकाशित, अप्रकाशित रूपों का संकलन पाठालोचन का प्रारम्भिक कार्य है। इन पाठ-सामग्रियों का अधिकांश समयान्तराल के कारण जीर्ण अवस्था में हैं। ऐसे पाठों का नई तकनीक के प्रयोग से उसका इलेक्ट्रॉनिक रूप जैसे—माइक्रोचिप्स, सीडी, फ्लापी आदि बनाकर उसे जीवन का पुनरुद्धार किया जा सकता है। कृति का कोई भी अंश अनुपयोगी नहीं होता। आवरण पृष्ठ से लेकर अन्तिम पृष्ठ तक की समस्त सूचनाएँ पाठालोचन के अत्यन्त आवश्यक होती हैं। इसलिए इसका संकलन पाठालोचन का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

2. पाठ निर्वाचन : किसी कृति के संकलित समस्त पाठों के गहन अध्ययन के उपरान्त अधिकतम शुद्ध 'पाठ' का निर्वाचन पाठानुसन्धान का दूसरा प्रमुख चरण है। कृति के विभिन्न पाठों में प्राप्त साम्य और वैषम्य ही हमारे पाठालोचन का

केन्द्रीय बिन्दु है। यह निश्चित है कि किसी कृति के विभिन्न पाठों का रचनाकाल अलग-अलग होगा। इसलिए सर्वप्रथम उनका कालक्रमानुसार संयोजन आवश्यक है। प्रत्येक प्राचीनतम कृति का मूल 'पाठ' के निकट होना कोई अनिवार्य शर्त नहीं होता, परन्तु प्रायः प्राचीनतम कृतियों को अपेक्षाकृत शुद्ध मानते हुए पाठालोचन करने में कोई अनुचित नहीं होता। इसके साथ ही 'पाठ' का रचना-समय, कृतिकार की भाषिक एवं शैलीगत प्रवृत्ति को ध्यान में रखना भी पाठालोचन के लिए आवश्यक है। इन दृष्टियों से चयनित कृति के 'पाठ' का चयन प्राथमिक स्तर पर किया जाता है।

3. पाठ सम्पादन : 'पाठ' सम्पादन पाठालोचन का महत्त्वपूर्ण चरण है। पाठालोचन हेतु चयनित कृति के पाठ-दोष निर्धारण के बाद उसका सम्पादन भी पाठालोचक को ही करना पड़ता है। सम्पादन एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसमें सम्पादक को इस बात का ध्यान कृति से गुजरते रखना पड़ता है कि कृति की मूल आत्मा कहीं से भी खंडित न हो। इसके लिए पाठालोचक को समय के इतिहास-भूगोल के साथ-साथ भाषा आदि का ज्ञान भी होना चाहिए। पाठगत अशुद्धियों के भेद से पाठालोचक की गम्भीर भूमिका स्थिर होती है। इस सम्बन्ध में डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा का मानना है कि 'वस्तुतः इसके लिए शोधक में रचनाकार की कारयित्री प्रतिभा का होना भी नितान्त आवश्यक है। पाठ-सुधार का कार्य अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है। इसमें तभी प्रवृत्त होना चाहिए, जब पाठ-निर्धारण में वास्तविक संकट उपस्थित हो गया हो। किसी रचनाकार की कृति के साथ अनधिकार चेष्टा के रूप में अनावश्यक छेड़छाड़ सर्वथा अनुचित है। यदि सही स्थान पर समीचीन पाठ-सुधार किया जा सका है तो यह निश्चय ही प्रमाद-सागर में निमग्न होते पाठ का उद्धार है।'[7]

4. पाठ आलोचना : इसे कुछ आचार्यों ने उच्चस्तरीय आलोचना कहा है। किन्तु उच्चस्तरीय आलोचना कभी 'बाइबल' के 'पाठ' हेतु प्रयोग किया जाता था। इसलिए हिन्दी पाठालोचन के लिए इस आध्यात्मिक स्वर वाले शब्द के प्रयोग से बचा जाना चाहिए। और दूसरी बात यह कि मात्र शब्द के प्रयोग से आलोचना का स्तर निर्धारित नहीं किया जा सकता। 'पाठ' आलोचना से आशय चयनित 'पाठ' के स्तर परीक्षण से है। किसी कृति का स्तर उस कृति में उपस्थित युगबोध और प्रस्तुति कौशल से निर्धारित होता है। इस दृष्टि से इसे पाठालोचन का प्रत्यक्ष चरण तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु पाठालोचक द्वारा दिया गया मन्तव्य निश्चित रूप से प्राथमिक मन्तव्य होता है। पाठालोचक पाठालोचन की प्रक्रिया से गुजरते हुए कृति को अत्यन्त निकट से देखता है। कृतिकार की कृति का दूसरा जन्म पाठालोचक द्वारा होता है। पाठालोचन के समय पाठालोचक कृतिकार की भावभूमि पर पहुँचता है। इसलिए 'पाठ' के सम्बन्ध में उसके द्वारा प्रस्तुत टिप्पणी 'पाठ' के सौन्दर्य का वास्तविक विश्लेषण होगी।

5. पाठ प्रकाशन : 'पाठ' प्रकाशन भी पाठालोचन का प्रत्यक्षतः अंग नहीं है, किन्तु प्रकाशन के बिना कालान्तर में शोधित 'पाठ' पुनः पाठालोचन की माँग करता

है। किसी भी कृति को प्रकाशन के बाद पुनर्जीवन प्रदान किया जाता है। प्रकाशनोपरान्त कृति सार्वजनिक रूप ग्रहण करती है। इसलिए पाठालोचन की पाठ प्रकाशन में परिणति कृति के पाठ-शोध की पूर्णत्व प्राप्ति है। विद्वानों ने पाठालोचक का दायित्व पाठ आलोचन या उच्चस्तरीय आलोचना तक ही माना है। किन्तु मेरी समझ से पाठ प्रकाशन पाठालोचन को पूर्णता प्रदान करता है। इसलिए पाठ प्रकाशन पाठालोचन का महत्त्वपूर्ण अंग है।

इस प्रकार देखा जाए तो हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पाठालोचन एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक शोध-कार्य के रूप में स्थापित होता है। इसके द्वारा अनेक कृतियों का पाठ उद्धार कर अध्येताओं के लिए साहित्य के क्षेत्र का विस्तार और परम्परित धारणाओं पर पुनर्विचार के लिए प्रेरित किया जा सकता है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पाठानुसन्धान की अपार सम्भावनाएँ हैं।

सन्दर्भ

[1] पाठालोचन के सिद्धान्त, डॉ. गोविन्द नाथ राजगुरु, पृ. सं. VII

[2] हिन्दी शोधतन्त्र की रूपरेखा, डॉ. मनमोहन सहगल, पृ. सं. 50

[3] हिन्दी शोधतन्त्र की रूपरेखा, डॉ. मनमोहन सहगल, पृ. सं. 52

[4] शोध प्रविधि, डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ. सं. 74

[5] इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद, डॉ. उदय नारायण तिवारी ने 'भारतीय पाठालोचन की भूमिका' नाम से किया है।

[6] शोध प्रविधि, डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ. सं. 76

[7] शोध प्रविधि, डॉ. हरश्चिन्द्र वर्मा, पृ. सं. 8

ऋतु गीतों में नारी संवेदना

छोटे लाल बहरदार*

ऋतु गीतों में मुख्यतया व्यक्ति-मन की संवेदना एवं भावना को अभिव्यक्ति मिली है लेकिन इस अभिव्यक्ति में परिवार और समाज का भी सहारा लिया गया है। ननद, देवर आदि पारिवारिक इकाई हैं जिनको संबोधित कर या जिनकी चर्चा कर नारी अपने मन की गाँठ खोलती रही है। पति तो मुख्य आलंबन है जिनके साहचर्य या वियोग के सुख-दुःख को विस्तार से वर्णन मिला है। जहाँ तक समाज की बात है, यहाँ समाज का प्रतिनिधित्व सखियाँ करती हैं। कभी-कभी तो अनेक सखियाँ मिल-बैठकर अपने मन के भावों को प्रकट भी करती हैं।

ऋतु गीतों में मुख्यतया नारी-मन में उठने वाली भाव-लहरियों का ही विस्तृत वर्णन है, पुरुष मन का बहुत कम। बदलती ऋतुओं के साथ नारी-मन भी उद्वेलित होता है और वह अपने पिया से मिलने के लिए आकुल-व्याकुल हो जाती है परंतु पिया हैं जो परदेश में बैठे हैं, पत्नी की सुधि भी नहीं लेते। यहाँ तक कि पत्र या कोई संदेश भी नहीं भेजते। ऐसे में, घर में अकेली बैठी नारी विरह की ज्वाला में जलती है और उपेक्षा के आँसू के घूँट पीती है–

'आहे सावन सुखद हेरी, सखी री वर्षा की बहार
का संग खेलौं कजरी, पिय बिन आए हमार।'

इसी भाव को नारी दूसरे गीत में भी अभिव्यक्त करती है–

'कासे न कहा जात, निंदिया न आवे रात,
बिरहा सतावै गात, श्याम न घरबा आज।'

ऐसे में सिवाय प्रियतम की प्रतीक्षा के उपाय क्या है?

'विरहिनी वाट जोहत प्रियतम के, जैसे चन्द्र चकोर।'

* शंकर चौक, ततमा टोली, पो. जिला - पूर्णिया, बिहार-854301, मो. 8809422198

वर्षा की ऋतु गरजते बादल, चमकती बिजली, गाते पपीहा—सब पिया के बिना फीके लगते हैं, बल्कि ये सारे मन को जलाते हैं—'कामिनी काम विरह व्याकुल वश, गिरे पछोड़ खाय।'

लेकिन इस वर्षा ऋतु में कहीं-कहीं नायक-नायिका की छेड़छाड़ का भी वर्णन हुआ है लेकिन कृष्ण-राधा को प्रतीक मानकर—

जल भरने को जब-जब जाए,
रोकत बीच डगरिया हो।

और कहीं दोनों के बीच चल रही प्रेम-क्रीड़ा का भी अच्छा वर्णन हुआ है—

'झूले कृष्ण प्रेमिका संग
मृदु मुस्काय, शशि शरमाय, बहत प्रेम के गंग,
कदम छाँह, धरत बाँह, उठत मृदुल उमंग।

सावन के महीने में जब रिमझिम वर्षा होती है तो नारियाँ झूले झूलती हैं। इसी प्रसंग में एक बड़ा अच्छा मनभावन पारिवारिक चित्र वर्णित हुआ है—

'झूला लगले कदम की डरिया, भौजी चलहूँ झूले ना।
पिया बसे परदेश ननदो, झूला भावे ना।'

ननद भाभी से कहती है कि हे भाभी, कदम के पेड़ में झूला लग गया है, चलो झूला जाए। भाभी कहती है कि हे ननद, मेरे पिया तो परदेश में बसे हुए हैं, ऐसे में मुझे झूला जरा भी नहीं सुहाता। इन पंक्तियों में ननद-भाभी के बीच का प्रेम एवं सौहार्द तो वर्णित है ही, पति के प्रति अटूट लगाव भी वर्णित है। कहना व्यर्थ है कि यही पारिवारिक प्रेम एवं सौहार्द किसी परिवार को परिवार बनाता है।

होली के गीतों में व्यक्ति, परिवार एवं समाज—तीनों का अच्छा चित्रण हुआ है। श्रीकृष्ण यमुना तट पर होली खेल रहे हैं। उसी समय—

'सब सखियन मिलि यमुना नहाए,
चीर चुराय लियो हमरी।'

इसके बाद सभी सखियाँ उनसे चीर वापस देने की प्रार्थना करती हैं। नर-नारी के बीच का प्रेम होली में पूरी तरह व्यक्त हो जाता है। यह ऐसा अवसर है जब एक-दूसरे पर रंग-अबीर डालकर वे अपने प्रेम को अभिव्यक्त करते हैं—

'कृष्ण के हाथ कनक पिचकारी, राधा के हाथ अबीर की झोरी' और इसके बाद—'भर पिचकारी बदन पे मारे, चोली हो गए रंग।' कभी-कभी प्रेम में यह शिकायत भी कितनी मनोरम लगती है—

'अखियाँ में डाल अबीर, बेदरदा दरदो न जाने।
रंग गुलाल के मारत हे, थर-थर काँपे शरीर।
कित बरजौं, बरजौं नहिं मानत, आखिर जात अहीर।'

और कभी पानी भरने जाती है तो मोहन छेड़छाड़ करता है, इसकी भी वह शिकायत करती है—'कैसे पनियाँ भरन हम जाय, मोहन मारे रोरी।'

होली गीतों में व्यक्ति-व्यक्ति का प्रेम, परिवार के सदस्यों के बीच सौहार्द तथा समाज के हर व्यक्ति के प्रति कल्याण का भाव वर्णित हुआ है। होली खेलना शुभ है और इससे सबका कल्याण होता है—

'सदा आनंद रहे यही द्वारे, मोहन खेले होरी हो।'

जिस द्वार पर मोहन ने होली खेली, वहाँ सदा आनंद का वास हो। 'सर्वे भवंतु सुखिनः, सर्वे संतु निरामया' जैसा उदार भाव इन गीतों में वर्णित है।

एक लोकगीत में पिया के न आने से नारी दुःखी तो है ही, देवर के नहीं रहने से भी दुःखी है। होली जैसा उत्सव और दोनों नदारद—'पियवा नहिं आवै, देवरवो नहिं आवै, करूँ हम कौन उपाय।' ऐसे में उसे स्वाभाविक चिंता है—'के यौ देतै चोलिया मोर रँगाय।'

चैती गीतों में वसंतागमन के कारण नारी के अंदर पिया-मिलन की आकांक्षा जग जाती है।

'जाइबे में पिया के नगरिया हो रामा, चैत जे मासे।'

क्योंकि—

'वन-उपवन बाग आयल बहार,
अंग-अंग उठल हिलोर हो रामा।

इसलिए इन गीतों में पिया-मिलन का सुख भी वर्णित है—आधी रात में कूककर कोयल ने सोए पिया को जगा दिया है—

'अंग-अंग अँगड़ाई लेके, पिया मोर उठल,
लागिन गेल चान के गहनवाँ हो रामा।'

पारिवारिक संदर्भ में इन गीतों में कहीं-कहीं देवर के सहयोग का वर्णन हुआ है—'देवर हाथ हम डरिया लिबेबै, अपनहिं हाथे तोड़बै टिकोलवा हो रामा।'

कहीं पिया के न रहने का दुःख और कहीं उनके आने के संभावना की खुशी—दोनों की सुंदर इन गीतों में अभिव्यक्ति इन गीतों में हुई है—

'चैत मास जोवना फुलायल हो रामा कि पिया नाहिं आयल।'
'बाई आँख मोरा फरके हे ननदी, पिया आजु आयताह।'

मन की खुशी किसके साथ बाँटे? घर में ननद ही ऐसी है जिसे वह मन की बात कर सकती है।

वस्तुतः अधिकांश चैती गीतों में नारी के पिया-मिलन की इच्छा के कारण और पिया के परदेश में होने के कारण उत्पन्न छटपटाहट का ही विशद स्पष्ट और मर्मस्पर्शी चित्रण है—

'आयल चैत उतपतिया हो रामा, नइ भेजे पतिया।
कल न पड़य अब रतिया हो रामा, नइ भेजे पतिया।

'बारहमासा' गीतों में भी नारी-मन में उठने वाले भावों का ही वर्णन हुआ है। इसमें सामाजिकता अधिक है क्योंकि कई सहेलियाँ एकसाथ मिल-बैठकर मन के भावों को अभिव्यक्त करती हैं। इन गीतों में कहीं-कहीं सामाजिक कुरीतियों का भी बड़ा अच्छा चित्रण हुआ है जिनमें बाल-विवाह तथा बेमेल विवाह मुख्य हैं। एक सखी अपनी स्थिति बताती है—

'हाल ही दश में बरिसवा भईल विवहवा सोरेह जवान हमार हो।' हाल ही में उसका विवाह हुआ है जबकि वह दस वर्ष की है और उसका पति सोलह का है।

एक दूसरी सखी अपनी छोटी उम्र की चर्चा करते हुए पति से आग्रह करती है—'अबहि उमरिया मोरी बड़ी छोटवा, नाहीं लगे भेदिया अनार है।'

एक अन्य सखी अपना दुखड़ा रोती हुई कहती है कि मेरा विवाह भी छोटी उम्र में ही हुआ था। जब मैं कच्ची उम्र की थी तब तो उन्होंने झटपट गवना करवा लिया और जब मैं युवती हुई हूँ तो उन्होंने मुझे भुला दिया है—

'जब हम रहली रामा काँचे उमरिया के, गँवना करावे तत्काल हे।
भूलि जब मीरा भईल रामा नवरस जवनियाँ, भुईल सुधिया हमार हे।

इस तरह के अधिकांश गीतों में विवाह के बाद पिया के परदेश में रह जाने, चिट्ठी या संदेश न भेजने का दुःख का विशद वर्णन हुआ है।

बेमेल विवाह के बारे में बताते हुए एक सहेली कहती है—

'हमरा जे मिलले रामा वर कुँवर, सुनुलेहु बुढ़वु के हाल हे,
रोटिया न घोंटे रामा, नाहिं घोटे भतवा, खिचड़ी उड़ावे खटास हे।'

परिणाम वही होता है जो ऐसे में होना चाहिए—

'नाहिं कभी प्यार करे, नाहिं करे बतिया, फाटेला छतिया हमार हे।'

एक अन्य सहेली अपने पति का वृत्तांत सुनाकर समाज में व्याप्त एक अन्य बुराई को बतलाती है। वह कहती है कि उसके पति—

'रंडियो के संग रहि धरम गँवइले, पीए शराब दिन-रात है।'

स्पष्ट है कि उपर्युक्त स्थितियों के वर्णन द्वारा बारहमासे के गीतों में व्यक्ति और समाज का अच्छा चित्रण किया गया है। पुरुष की निष्ठुरता की मारी नारी घर में बैठकर दिन-रात उसके नाम की माला जपती है, उसके आने की प्रतीक्षा करती है पर पति परदेश में रहकर कभी पत्नी की सुधि नहीं लेते। यहाँ तक कि कभी चिट्ठी-पत्री भी नहीं भेजते।

ऋतु गीतों में आम लोगों के जीवन-यापन के तीन आधारों का वर्णन है—कृषि, नौकरी और व्यापार। इनमें कृषि जिसके अंतर्गत बागवानी तथा धान की खेती का स्पष्ट वर्णन है। अनेक गीतों में पिया के परदेश होने का वर्णन है। परदेश में पिया क्यों हैं—इसके पीछे एक कारण नौकरी का स्पष्ट उल्लेख है लेकिन दूसरा कारण व्यापार भी हो सकता है, यह अनुमानित है। पिया का व्यापार के सिलसिले में भी लंबा प्रवास हो सकता है। यह असंभव नहीं है। किसी-किसी गीत में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि पिया बारह वर्ष से बाहर हैं, परदेश में हैं।

इतने लंबे समय तक लगातार बाहर रहने का कोई तर्कसंगत कारण नजर नहीं आता। इससे तो यही संकेतित होता है कि उसने घर का परित्याग कर दिया है और अपनी पत्नी का भी और वहीं किसी दूसरी औरत के मायाजाल में फँस गया है।

चैती गीतों में वसंत के आते ही बगिया में फूल खिलने का विस्तार से वर्णन आया है जिससे पता चलता है कि बागवानी के प्रति लोगों में रुचि रही है।

वन-उपवन बाग आयल बहार,

'बेलि फुलायल, चंपा फुलायल, मलिया के बगिया फुलायल हो रामा।'

साथ ही, फलों में आम्र-वृक्षों का वर्णन आने से यह भी स्पष्ट है कि लोगों में फलों के वृक्ष लगाने की प्रवृत्ति रही है—

'कौने मास अमुवा मंजरि गेल, कौउने मास फरले टिकोलवा हो रामा।'

अमुवाँ फुलायल, महुआ फुलायल'
अमुवाँ मोजरि गेल, फरि गेल टिकोलवा।

धान की खेती किए जाने के संबंध में एक 'बारहमासा' गीत में वर्णन आया है—'अगहन हे सखि हरित सुहावन, चारूदिशि उपजत धान हे।' नौकरी करने के बारे में एक सखी कहती है—'हमरो बलम सखि करे नौकरिया, छुट्टियो न आवै फागुन मास हे।'

जहाँ तक लोगों की आर्थिक स्थिति का प्रश्न है तो इनमें दोनों तरह की स्थितियों का वर्णन आया है—एक जो धनी हैं, संपन्न हैं, दूसरे जो गरीब हैं, विपन्न हैं। जहाँ राधा-कृष्ण के द्वारा झूला झूलने का प्रसंग वर्णित हुआ है, वहाँ राजसी ठाठ है—झूला चंदन की लकड़ी का बना है और डोर बनी है रेशम की—

'रत्नजड़ित चंदन की चौकी, रेशम लागी डोर।'
'चंदन काठ के बने हिंडोला, रेशम डोरी ना।'

इसी प्रकार जब श्रीकृष्ण होली खेलते हैं तो वहाँ भी पिचकारी सोने की होती है—'कृष्ण के हाथ कनक पिचकारी, राधा के हाथ अबीर की झोरी', उनकी होली भी केसर और गुलाल से खेली जाती है—

'नौ मन लाये केशरी हो, नौ मन लाये गुलाल।'

लेकिन यह राजसी ठाठ आम लोगों का नहीं हो सकता। आम लोगों में धनी और गरीब दो वर्ग हैं, इसका उल्लेख भी अनेक गीतों में हुआ है। जो गरीब औरतें हैं, वे पति से जिस जेवर की माँग करती हैं, वे उनकी गरीबी के प्रतीक हैं—

'झुलनी गढ़ाय दे, झुलनी मढ़ाय दे,
मीना में पानी चढ़ाय दे हो बालम।
चैते मासे टीका गढ़ाय दे हो
टीका गढ़ाय दे, सिकरी लगाय दे,
सिकरी में झुनकी लगाय दे हो बालम।'

वह माँगती भी है तो इयररिंग और टीका—वह भी सोने की ही हो, जरूरी नहीं। वह चाँदी के जेवर में भी खुश है, उसे हीरा-मोती नहीं चाहिए, क्योंकि वह अपनी आर्थिक स्थिति जानती है।

इस प्रकार वह वस्त्र भी माँगती है तो मात्र चुनरी और चोली। बहुत कीमती वस्त्र की उसे आवश्यकता नहीं है—

'चुनरी रँगा दे, चोलिया सिला दे'

'बारहमासा' गीतों में अमीर-गरीब के बीच की खाई का बड़ा स्पष्ट वर्णन आया है। एक सखी कहती है—

'सब कोई पहने रामा पाट-पाटंबर,
हम धनि गुदनी पुरान हे।'

एक दूसरी सहेली भी कहती है—

'कुहुक-कुहुक करे अपनी बयनवाँ, पहिरि के लुगरी पुरान हे।'

कोई कीमती वस्त्र पहने और कोई पुरानी-धुरानी गुदड़ी — इस प्रकार की आर्थिक विषमता आज भी समाज में व्याप्त है।

यही कारण है कि जाड़ा आते ही गरीबों की स्थिति बहुत दयनीय हो जाती है। उसके पास जाड़ा से मुकाबला करने का वस्त्र नहीं होता, फलस्वरूप—

'पूस हे सखि ओस पड़ि गेल,
भींजि गेल लांबि-लांबि केश हे,
जाड़ा छेदे तन सुई सन छन-छन -
थर-थर काँपयत करेज हे।'

इस स्थिति का वर्णन एक और गीत में भी आया है–

'माघ हे सखि जाड़ा पड़तु हैं, थर-थर काँपे शरीर हे।'

इस तरह, अनेक लोकगीतों में आम लोगों की आर्थिक स्थिति का वर्णन है। पिया को इसी आर्थिक दबाव के कारण परदेशी बनना पड़ता है और घर में उसकी पत्नी रोती रहती है–

पहली सखी कहे सुनु प्यारी सखिया, मोर पिया गए परदेश हे।'
जाइ परदेशवा में भूले मोर सुधिया, नहिं भेजे पतिया संदेश हे।''
'चैत मास जोवना फुलायल हो रामा कि पिया नहिं आयल।'
'गौनवाँ कराय मोरा, पियवा गेलै परदेश।'

स्पष्ट है कि ऋतु-गीतों में संपन्नता का वर्णन कम हुआ है और विपन्नता तथा उससे उपजी व्यथा का वर्णन अधिक हुआ है।

ऋतु-गीतों में अनेक देवी-देवताओं के नाम तथा उनके द्वारा किए गए कृत्यों का वर्णन आया है। कृष्ण कभी अपनी प्रेमिकाओं को वृंदावन में छोड़कर मथुरा चले गए थे। इसलिए, आज भी जब कोई नायिका या नारी अपने प्रेमी या पति की प्रतीक्षा करती है, परदेश से वापस लौटने की आशा करती है तो पति कृष्ण और प्रतीक्षारत नारी ब्रजबाला बन जाती है–

'बिरहा सतावै गात, श्याम न घरवा,
...व्याकुल ब्रजवाम, हेरे डगरवा।'

सावन महीने में झूला झूलने का रिवाज है। कभी राधाकृष्ण भी रासलीला रचाते थे और झूला झूलते थे। इसलिए, उनके झूला झूलने संबंधी गीत आज भी 'कजली' के रूप में गाए जाते हैं–

सावन उपवन के वन फूले, झूला झूले नंद किशोरी।
(झूला) झूले नंद के दुलार, देखो मोरी सजनी।

धार्मिक भाव कृष्ण और राधा के प्रति इतना गहरा है कि सावन के काले मेघ में कृष्ण और चमकती बिजली में राधा के दर्शन होते हैं–

'तू हे कृष्ण सघन सावन की छटा
राधा तू हे दामिनी दमक रही।

कभी कृष्ण प्रेमिका के साथ झूला झूलते हैं और कभी राधा के साथ–

'झूले कृष्ण प्रेमिका संग'

और

'राधा झूले, श्याम झुलावे, पारा-पारी ना'

और जब फागुन आता है और दुनिया होली मनाती है, उस समय भी कृष्ण राधा से होली खेलते नजर आते हैं–

'यमुना तट श्याम खेले होरी।'

इसी क्रम में कृष्ण से जुड़े चीरहरण प्रसंग का भी वर्णन इस होली-गीत में किया गया है–

''सब सखियन मिलि यमुना नहाए,
चीर चुराय लियो हमरी।'

राधा-कृष्ण की सुंदर जोड़ी देखकर लोगों का मन बाग-बाग है–

'राधा-कृष्ण के सुंदर जोरी, गावत दै-दै ताली।'

कभी कृष्ण के द्वारा छेड़छाड़ किए जाने का उलाहना, कभी उनसे रंग न देने की प्रार्थना और कभी उनके साथ रंग खेलने की इच्छा–इन सारे भावों को विभिन्न होली-गीतों में व्यक्त किया गया है। वस्तुतः होली-गीत लगभग सारे-के-सारे कृष्ण-राधा प्रसंग से भरे पड़े हैं जो हिंदुओं की धार्मिक आस्था का प्रमाण है। उनका विश्वास यहाँ तक है कि–

'सदा आनंद रहे यही द्वारे, मोहन खेले होरी हो।'

चूँकि मोहन ने इस द्वार पर होली खेली है, इसलिए यहाँ सदा आनंद का वास होगा।

राधा-कृष्ण के अलावा कुछ होली-गीतों में माँ जगदंबा तथा भगवान शिव को भी होली खेलते दिखाया गया है।

'जगदंबा खेलत फाग जोगिनी संग लिये।'

इस होली गीत में तो देवता, भूत-पिशाच, सूर्य, ब्रह्मा, भीम, गंगा, हनुमान, शेषनाग, बाबा विश्वनाथ और बाबा जगन्नाथ सबको होली खेलते दिखाया गया है।

एक अन्य गीत में सिंघेश्वर भगवान यानी शिवजी को होली खेलते दिखाया गया है–

'सिंघेश्वर खेलते होरी हो, नदी परमान के तीर।'

इस प्रकार होली को लोगों ने मात्र मस्ती और दैहिक सुख का ही अवसर नहीं

माना है वरन् ईश्वर-स्मरण का भी अवसर माना है जो उनकी सांस्कृतिक पहचान बन गई है।

चैती गीतों में भी कहीं-कहीं धार्मिक भाव अभिव्यक्त हुए हैं। कभी रामचंद्र जी जनक की फुलवारी में फूल तोड़ने गए थे– अपने गुरु की पूजा हेतु। एक चैती गीत में उसी जनक-फुलवारी की शोभा वर्णित है–'चलु सखि देखन जनक ललित फुलवरिया हो रामा।' वहाँ जाकर वे सखियाँ केवल शोभा ही नहीं निरखती हैं वरन् राम की तरह फूल भी तोड़ती हैं–

'खोंइछा भरि तोड़ल, चंगेरी भरि तोड़ल,
आदि गेले राजा के सिपहिया हो रामा।'

भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता है कि यहाँ भाग्य के लेख को प्रबल तथा अमिट माना जाता है। धारणा है कि ईश्वर ने भाग्य में जो लिख दिया, वह बदला नहीं जा सकता। 'बारहमासा' गीतों में इस तरह का भाव प्रकट किया गया है–

'सुनु सुनु सखिया करमक हजिया टकिया मारल भगवान हे।
कोटिन उपाय कएलों मिटे नाहीं टकिया जो लिखे अंक करतार हो।'

'बारहमासा' गीतों में भी कृष्ण और कुब्जा का प्रसंग वर्णित हुआ है। ब्रज की गोपिकाओं की यह धारणा थी कि मथुरा में कृष्ण को कुब्जा ने फुसला लिया है, इसलिए वे वापस नहीं आते–

आसो जे पूरे राम कुबड़ी सौतिनियाँ सेही कंत रहइ लुभाई हे।

एक 'बारहमासा' गीत में सीता को प्राप्त करने के लिए राम द्वारा सेतु निर्माण करने का प्रसंग भी वर्णित हुआ है–

'एही प्रीति कारण सेत बाँधल
सिया उदेश श्री राम हे।'

इस गीत में गंगा-स्नान करके पुण्य अर्जित करने का भी उल्लेख हुआ है–

'कातिक हे सखि पुन्न महीना,
सखि कर गंगा स्नान हे।'

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि हिंदुओं में धर्म के प्रति दृढ़ आस्था है, वह उनके लोकगीतों के माध्यम से अनायास ही प्रकट हो जाती है।

इन लोकगीतों में अभिव्यक्ति विचारधारा ऐसे नर-नारियों के हैं जिन्हें शिक्षा की वर्तमान हवा अभी लगी नहीं है। इसलिए न तो उनके विचारों में और न उनकी भाषा में कहीं शिक्षित होने का प्रमाण मिलता है। नारी मुख्यतया पुरुषाश्रित हैं–आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक–सभी दृष्टियों से। इसलिए, सभी नारियाँ पति के परदेश

वास करने पर दिन-रात उनकी प्रतीक्षा करती हैं और उनका संदेश पाने और आगमन के लिए बेचैन दिखाई पड़ती हैं। वे अपनी छोटी-छोटी माँग के लिए भी पति पर निर्भर करती हैं। भारतीय संस्कृति में नारी को पुरुष की छाया के समान समझा गया है। इसलिए, किसी भी नारी को परपुरुष का कभी नहीं दिखाया गया है। पति बारह वर्षों से बाहर हैं, उनकी सुधि भी नहीं लेते लेकिन वह तो कृष्ण की राधा की तरह दिन-रात उसी का नाम जपती हैं। संभव है कि आज की शिक्षित नारी अपनी इस उपेक्षा को बहुत दिनों तक बर्दाश्त न कर सके, पर, पारंपरिक भारतीय नारी का प्रतीक बनी इन लोकगीतों की नारी इसे अपनी नियति मानकर सब कुछ सहन कर लेती है।

सेक्युलर कहलाने का औचित्य

नंदलाल मेहता बागीश

'सेक्युलर' शब्द का वास्तविक अर्थ, संदर्भ, ऐतिहासिक आगम-स्रोत और प्रयोग-तात्पर्य क्या है, इसकी सही जानकारी भारत के कथित सेकुलरिस्टों को नहीं है। इसलिए उनकी प्रतिक्रियाएँ प्रायः तात्कालिक होती हैं, तात्त्विक और विचारगत नहीं होतीं। वे अपनी प्रतिक्रियाओं से राष्ट्रीय अस्मिता को ठेस पहुँचाते रहते हैं, स्थान चाहे संसद के भीतर हो या बाहर। उनकी प्रतिक्रियाओं से 'भारत राष्ट्र' की कोई अवधारणा नहीं उभरती।

'सेकुलरियों' की दृष्टि में राष्ट्र से बड़ा वोट है। फिर चाहे वह पाकिस्तानी-बँगलादेशी या फिर चीनी स्रोत से क्यों न हो, उन्हें कोई परहेज नहीं है। उनकी गिद्ध दृष्टि तो नियम-उपनियम, सिद्धांत और संविधान के सुविधागत वोट-उपयोग पर लगी रहती है।

सन् 1975 के आपातकाल में क्या हुआ? संविधान और प्रशासनिक नियम व्यवस्था के परखच्चे उड़ा दिए गए। संविधान में मनमाने संशोधन किए गए। केवल इसलिए न कि सत्ता की कुर्सी हाथ से न निकल जाए। 'अभिव्यक्ति पर संकट' का शोर मचाने वाले तब बिलों में घुस गए थे। मानवाधिकारवादी तब कहाँ चले गए थे। जाते कहाँ? सभी तो सेकुलर धंधों में लगे हुए थे। इसी अंतराल में सत्ता पक्ष ने सांविधानिक रीति से 'सेकुलर' शब्द को प्रतिष्ठित पोशाक पहना दी। इसे भारतीय राजनीति का सर्वोच्च मानक प्रचारित किया गया, जिससे आने वाली पीढ़ियों को लगे कि सेकुलरिया होना भारतीय राजनीति की आदर्श उपलब्ध है। आपातकाल की ज्यादतियों से ध्यान हटाने के लिए यह सब षड्यंत्रपूर्वक किया गया। सारी सरकारी मशीनरी इसी प्रचार में झोंक दी गई। हालाँकि सन् 1947 से 1975 तक भारत की वोट-राजनीति में समाजवाद की गूँज तो सुनाई देती थी, पर 'सेकुलर' शब्द की

* डॉ. नंदलाल मेहता वागीश, पी-एच.डी., डी.लिट् (लेखक-समीक्षक भाषाचिंतक)—वागीश— राष्ट्रीय विचारक - भारतधर्मी समाज, 1218 सेक्टर 4, गुरुग्राम-122001

आवाज नदारद थी। तब उसका नामलेवा भी कोई नहीं था।

'वोट-भोट' की भारतीय राजनीति ने सन् 2004 से 2014 तक का समय सेकुलरियों का दौर फिर से उभार पर था। जिसे देखो वही सेकुलर होने का छद्म पाले हुआ था। संदर्भ, स्रोत, परिवेश और पूर्वापर प्रसंग जाने बिना, छुटभैया से लेकर घाघ राजनीतिक धंधेबाज—सभी 'सेकुलर सेकुलर' कहने में लगे थे। ठीक वैसे, जैसे वियाबान जंगल में बड़े गीदड़ की आवाज पर बाकी सभी गीदड़ 'हुँआँ हुँआँ' करने लगते हैं। सेकुलर मकड़जाल में भारत की वोटलिप्सु राजनीति को गढ़ने में मारक भूमिका निभाई है। यूँ पिछले 65 सालों से एक 'सबसे पुरानी सेकुलरिया पार्टी' के द्वारा 'भारतधर्मी समाज' की एकता को ध्वस्त करने के षड्यंत्र जारी थे।

आजादी से पहले ही विराट् भारतधर्मी समाज के अभिन्न अंग 'सिखों' को अलग करने का घृणित अभियान जिन जयचंदों ने चला रखा था, आजादी के बाद वे उस जमात में शामिल हो गए, जिन्होंने वोट-राजनीति से सत्ता हथिया ली थी। इस कार्य में भारत के 'कामनिष्ठ' (कम्युनिस्ट) उनके साथी थे। तभी तो शहीद-ए-आजम भगतसिंह के पक्ष में मुकदमा लड़ने से ये सेकुलरिस्ट पीछे हट गए थे। स्वाधीनता-संग्राम में क्रांतिकारियों की प्रणम्य भूमिका को धूमिल करने में इस जमात के कारकुन पहले से ही सक्रिय थे। कई तो अंग्रेजों की मुखबिरी करते थे। परंतु कक्ष से बाहर आते ही 'इंकलाब जिंदाबाद' की मुद्रा अपना लेते थे। स्वाधीनता के बाद इन सेकुलर गिरोह के दबाव से धीरे-धीरे साहित्यिक पाठ्यक्रमों से कवि रहीम, रसखान, ताज और कवि भूषण हटा दिए गए। कवि तुलसीदास और सूरदास भी दिनातीत कर दिए गए, और यहाँ तक कि कवि कबीर के काव्यांशों को पाठ्य-पुस्तकों से विदा कर दिया गया। श्रीधर पाठक और माखनलाल चतुर्वेदी की बात तो क्या करें, महाकवि निराला द्वारा रचित खंड काव्य 'तुलसीदास' और सुभद्रा कुमारी चौहानकृत 'झाँसी की रानी' जैसी रचनाएँ भी सेकुलर अरुचि का शिकार हो गईं। उर्दू भाषा के नजीर अकबराबादी और हाली भी सेकुलर गिरोह की नजरों से गिर गए और पाठ्यक्रम से हटा दिए गए।

सन् 2004 से 2014 तक सत्ता पर काबिज हुए सेकुलरिस्टों ने 'भारत भाव' को अपमानित करने का मानो युद्ध ही छेड़ दिया। भारतधर्मी समाज को विघटित करने के पुनः प्रयास शुरू हुए। ऐतिहासिक कारणों से अखंड भारतधर्मी समाज से 'बौद्धों और सिखों' को अलगाने में सेकुलरिए कुछ कामयाब तो हो गए थे, किंतु उनका विघटनवादी धंधा अभी तक रुका नहीं था। कभी कबीरपंथी, कभी ब्रह्म समाज, कभी परमहंस रामकृष्ण के अनुयायी तो कभी आर्य समाजियों और कुछ अन्य संप्रदायों को भारतधर्मी समाज से विच्छिन्न करने की कपट योजनाएँ इनके द्वारा विचारित होती रहीं। अंततोगत्वा विघटनकर्ता सेकुलरियों ने 'जैन समाज' को अल्पसंख्यक दर्जा देकर अपनी खीझ उतारी और आने वाली पीढ़ियों को भ्रमित करने के विष-बीज बो दिए।

वस्तुतः 'भारत भाव' का विरोध करने वाले जिस शातिर राजनीतिक शख्स ने

सेकुलर शब्द को दुलारा, आजादी से पूर्व महात्मा गाँधी के कंधों पर बैठकर उसी शख्स ने योजनापूर्वक लोकतंत्र का सर्वोच्च पद हथिया लिया। वरना गाँधी जी के शील, संस्कार, आचरण, अर्थ-नीति, उद्योग-नीति, भाषा-नीति, भारतीय चिंतन और समझ से यह शख्स कोसों दूर था। गाँधी जी के गुजरने के बाद वह 'सेकुलर' शख्स अपनी महत्त्वाकांक्षा के असली रंग में आ गया और शासन के बल से 'भारत भाव विरोधियों का कमांडर हो गया। तुष्टीकरण के लिए उस शख्स ने भारतीयों के उदार एवं सहज स्वभाव का भरपूर फायदा उठाया। हालाँकि जानता वह भी था कि सेकुलर धारणा भारत के संदर्भ में अर्थहीन है, पर उसे एक वर्ग-विशेष का वोट और उनके लिए तुष्टीकरण का अनैतिक रास्ता लुभाने लगा था।

'सेकुलर' शब्द प्रयोग का मूल स्रोत यूरोपीय जगत् का वह विवाद है, जो मध्ययुग में चर्च और शासन-सत्ता के बीच अधिकार-प्राप्ति के लिए चला था। आखिर धर्मसत्ता और शासन-सत्ता के बीच संघर्ष-विराम इस बात पर हुआ कि चर्च के आंतरिक मामलों में शासन-सत्ता हस्तक्षेप नहीं करेगी और चर्च भी राज्य-सत्ता के स्वायत्त अधिकारों को अपने पांथिक दबावों से सर्वथा मुक्त रखेगा। यानी दोनों पक्ष एक-दूसरे के मामलों में तटस्थ रहेंगे। बस, योरूप के 'सेक्युलरिज्म' का स्रोत इसी समझौते तक सीमित था। दो पक्षों के बीच का यह समझौता आज भी कायम है। 'रोमन कैथोलिक चर्च' के परम धर्माध्यक्ष पोप की वैटिकन सिटी का दर्जा 'सर्वतंत्र-स्वतंत्र-संप्रभु' देश का है। धर्माध्यक्ष के साथ पोप ही इस क्षेत्र के परमोच्च शासक हैं। यहाँ तक कि 'वेटिकन सिटी' अंतर-राष्ट्रीय कानूनी दृष्टि से 'आक्रमण' से मुक्त है। पर, भारत में कभी कोई ऐसी स्थिति नहीं थी। सन् 1947 में धर्म के आधार पर राजनीतिक बँटवारे का दर्द भारत को ही झेलना पड़ा। भारतधर्मी समाज के सभी सदस्य अपनी-अपनी आस्था का पालन करते हुए दूसरे की आस्था का सम्मान करते थे और करते हैं। अभिप्राय यह कि भारतीय समाज का आंतरिक शील एकाधिक आस्थाओं में भी संतोष प्राप्त करता है। यही सच्चा सेकुलर भाव इसे ही 'सर्वधर्म समभाव' के रूप में भारत जानता है। 'धर्म निरपेक्ष और पंथ निरपेक्ष' बनावटी शब्द हैं। ऐतिहासिक सच्चाई है कि 'सर्वे भवंतु सुखिनः' के सर्वोच्च भाव में जीने वाले 'भारत धर्मी' समाज के लिए 'सेकुलर' शब्द राजनीतिक छल के अलावा कुछ नहीं है। वह शकुनि का पाँसा है। सेकुलर मूलतः सामाजिक क्षेत्र का महाभाव है, जिसे भारत के 'वर्ग विद्वेषी' टुच्चे लोगों ने राजनीति का विषय बना दिया है। न तो सेकुलर का अर्थ 'धर्मनिरपेक्ष' है और न ही पंथनिरपेक्ष'। सेकुलर तो बस सेकुलर है। उसका लक्ष्य है – भारत के ऐतिहासिक गौरव को धूमिल करना। यदि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से निकले सेकुलर का अर्थ 'सर्वधर्म समभाव' स्वीकार कर लिया जाए तो देश और काल के अनंत विस्तार में 'भारतधर्मी समाज' को छोड़कर ऐसा कोई समाज नहीं है, जो सच्चे धर्मों में 'सेकुलर' यानी 'सर्वधर्म समभाव' की पात्रता रखता हो। यदि सेक्युलर

शब्द को सही संदर्भ और इतिहास-दृष्टि से समझा लिया जाए तो भारत के राजनीतिक धंधेबाजों का सारा 'सेकुलर खेल' ही चौपट हो जाएगा।

वस्तुतः 'सेकुलर' भारतीय समाज की आस्थागत एकता से भय खाते हैं। वस्तुनिष्ठ चिंतन और भारतीय वैचारिक श्रेष्ठता से नई पीढ़ी का ध्यान हटाने के लिए इन सेकुलरियों ने संविधान का सहारा लेकर 'जैन समाज' को भारतधर्मी अखंड-धारा से अलग करने का कुचक्र रचा है। इससे पहले भी ब्रह्म समाज और रामकृष्ण परमहंस से संबद्ध आस्थाओं को भारतीय समाज की व्यास पीठ से छिटकाने के प्रयास किए जा चुके थे। इनका वश चलता तो ये बहुसंख्यक समाज की पारिवारिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देते। कोशिशें तो ये अब भी कर ही रहे हैं। भारत की आधारभूत आस्थाओं को अंतिम झटका देने के लिए भारतधर्मी समाज के सर्वोच्च धर्माध्यक्ष जगद्गुरु शंकराचार्य को सेकुलर हाईकमान ने झूठे मुकदमों का सहारा लेकर जेल की सीखचों के पीछे भिजवा दिया। अपने सत्ता-काल में इन्होंने अनेक पूज्य संतों को परोक्ष रूप से प्रताड़ित किया। जिस तरह आधी रात के समय दिल्ली में ही योग-अभ्यासी समाज को इन सेकुलरियों ने पुलिस हिंसा का शिकार बनवाया, वह भारत के इतिहास में बेहद शर्मनाक था। एक निरपराध महिला की उन्होंने बलि ले ली। यदि माननीय न्यायालयों ने इन संतों को ससम्मान बरी न किया होता तो ये भारत के राष्ट्रजन पर अपने आक्रामक प्रयास जारी रखते। जो सेकुलर जमात इमरजेंसी लगाकर पूरे भारत को हिला सकती है, वह भला अध्यात्म-क्षेत्र के साधु-संतों को क्या समझे? यदि इनकी सत्ता न जाती तो विगत सेकुलर सरकार ने भारत के सांस्कृतिक संगठन के सर्वोच्च राष्ट्रीय नेतृत्व को किन्हीं झूठे आरोपों में फँसाकर कारागार में डाल दिया होता, ऐसा कुछ समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो चुका है। पर कहते हैं न कि 'तेरे मन कुछ और है, विधना के मन और'। यही हुआ और ये सेकुलर, मन-मसोसकर रह गए।

भारत की राजनीति का इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है कि घोर जातिवादी, घनघोर मज़हबी, जिहादी और कट्टर हिंसक समूह भी स्वयं को सेकुलर कहकर गद्गदा रहे हैं। राजनीतिक अस्तित्व की तलाश के लिए ये अपने-अपने गुप्त एजेंडों की आड़ में न्यूनतम कार्यक्रम बना लेते हैं। निभ जाए तो ठीक, वरना फिर सेकुलर मूल्यों के नाम पर एक-दूसरे को लतियाते हैं और गठबंधन को ठगबंधन में बदल लेते हैं। यही इनका साझा चूल्हा है। अपनी रोटी सेंकी और फिर बुझा दिया।

वस्तुतः ऐसा नहीं है कि इन सेकुलरियों में कुछ साझा नहीं है, आखिर कुछ-न-कुछ तो साझा है ही, वरना स्वभाव, संस्कार, विचार-दृष्टि और आस्था-क्षेत्र के परस्पर विरोधी सेकुलर एक ही पाखंड-झंडे के नीचे एक साथ कैसे खड़े होते? वस्तुतः पाखंड करना ही इनका न्यूनतम कार्यक्रम है। मसलन कुर्सी पर निगाहें, अवसर की छीना-झपटी, भेदभाव की कूटनीति, असंगठित वर्ग का दोहन और संगठित का तुष्टीकरण, जन के नाम पर जन का शोषण, औकात के हिसाब से बंदरबाँट, भ्रष्ट

आचरण, धूर्तता, राष्ट्रविरोधी निष्ठाएँ, आतंकवादी विचार और हत्याओं का नैतिक समर्थन, घोर अल्पज्ञता, इतिहास-संस्कृति-अध्यात्म-अतीत गौरव और राष्ट्रीयता से दूरी – इतना कुछ तो साझा है। इनका राष्ट्रबोध निराला है। कुर्सी-पद बना रहे, कार-कोठियाँ बँगले, मॉल हाउस, कब्जाए हुए प्लॉट सुरक्षित रहें, तो लोकतंत्र और देश सुरक्षित है। यही तो इनका सेकुलरवाद है।

वोट ही सब कुछ है, वोट ही सर्वोपरि है, वोट ही माई-बाप है। देश तो क्या चीज है, पर-हत्या तो क्या, वोट के लिए तो आत्महत्या तक की जा सकती है। इसी आत्महंता सोच से बौखलाई हुई आधा दर्जन सेकुलर जमातें देश की राजनीति में धमा-चौकड़ी मचा रही हैं। इनकी सोच और गतिविधियों से राष्ट्र की आंतरिक एकता खतरे में पड़ गई है। इस उत्पात की शुरुआत करने वाली सबसे पुरानी जमात वह है, जो स्वयं घोषित 130 वर्ष से अधिक जराजीर्ण होने पर भी अपनी गतिविधियों पर फूली नहीं समाती है। इस जमात ने भारत को कई जख्म दिए हैं। इसकी काश्मीर नीति, तिब्बत-समर्पण का फैसला, चीन से मिली शर्मनाक शिकस्त और अपने ही देश में घर छुड़वा दिए जाने के शिकार बने। विवश राष्ट्रजन इसकी सेकुलर नीतियों के दुष्परिणाम भोग रहे हैं।

प्रबुद्धजन इस जमात की उपमा डूबते हुए उस आदमी से दे रहे हैं, जो बचाने वाले आदमी को ही ले डूबता है। बुढ़ापे में यूँ भी मतिभ्रम स्वाभाविक है। तभी तो इस सेकुलर जमात के एक विदेश मंत्री राष्ट्रमंच पर अपने देश के प्रतिवेदन के स्थान पर किसी और देश का प्रतिवेदन पेश करने में मग्न रहे। यह वही सेकुलर जमात है जिसकी झोली में इमरजेंसी के अलावा कई काले हीरे हैं। क्षेत्रीय स्तर पर ही सही, 1984 के सिख-नरसंहार की प्रमाणित दोषी यही सेकुलर जमात है। इसके सीने पर घोटालों के अनेक मेडल चमक रहे हैं। ऐसे में लोगों के जहन में यह खयाल उभर रहा है कि वर्तमान केंद्रीय सरकार से यह सेकुलर जमात कहीं इसलिए तो नाराज नहीं है कि निरंतर साठ साल तक भ्रष्टाचार पर कड़ी मेहनत करने वाली इस जमात के लिए यह सरकार, 'भ्रष्टाचार शिरोमणि नोबेल प्राइज' दिए जाने की सिफारिश तो कम-से-कम कर ही सकती थी। आखिर इस जमात के पास भ्रष्टाचार का वैश्विक तजुरबा तो है ही। इस सेकुलर सरकार के कई सूरमा ऐसे हैं, जो कोयलों की दलाली से उजले हो गए हैं। तुष्टीकरण, जातीय मजहबी उन्माद, आतंकियों के पक्ष में खड़े होने की इनकी ताकत को भारत के राष्ट्रजन जानते ही नहीं।

सेकुलरिस्टों की दूसरी जमात विशुद्ध जातिवादी है। वोट हथियाने के लिए जाति, गोत्र और उनकी उपजातियों समेत थापों पर बहुत शोध-कार्य किया है। न जाने कौन-सी गणना कब काम आ जाए? इनके लोकतंत्र का गणित इससे आगे नहीं बढ़ता, तो भी वोटों की जुगाड़ के लिए ये सारे दरवाजे खुले रखते हैं। स्वतंत्रता-संग्राम के परम क्रांतिवीर 'श्री सुभाषचंद्र बोस को इस देश के 'कृतज्ञ जनमानस' ने 'नेता जी'

का ऐतिहासिक संबोधन दिया था। एक जातिवादी सेकुलरवीर ने इस ऐतिहासिक संबोधन पर निजी अधिकार कर लिया है। शुक्र है कि 'महात्मा जी' संबोधन पर हाथ नहीं डाला।

सेकुलरियों की तीसरी जमात मजहबी जोड़-तोड़ और फतबों पर निर्भर करती है। संविधान बस वहीं तक है जहाँ तक इनके मजहबी इदारें इजाजत देते हैं। नहीं तो फिर 'पर्सनल लॉ' के विधि-निषेधों का जाप-ताप शुरू हो जाता है। आप नाक से साँस ले रहे हैं तो फिर देखिए, ये कैसे मुँह से फुँफकारते हैं, फुँफकारों को हिंसा में बदल सकते हैं। इनका यह कहना राष्ट्र के लिए कितना खतरनाक इशारा है कि आधे घंटे के लिए अपनी पुलिस हटा लीजिए और फिर देखिए कि हम क्या करते हैं?

सेकुलरियों का एक चौथा वर्ग स्वजाति के साथ विधर्मी मजहब की कॉकटेल बनाकर वोटरों को कई वर्षों से एक अजीब-सा नशा पिलाने का प्रयास कर रहा है। लगता है कि यह अकबर के 'दीन-ए-इलाही' से प्रभावित हैं। पांडवकालीन जरासंध और कालयवन की दोस्ती का जिक्र करते हुए इस जमात के भकुए खुद को जरासंधी कहते हैं। जरासंध के दामाद कंस का ये जिक्र नहीं करते। यूँ भी दामाद का नाम लेना कोई अच्छी बात तो है नहीं। पढ़े-लिखे होने के बाद भी ये अपनी डिग्री की बात छिपाते हैं। पता नहीं कोई पत्रकार कब और क्या पूछ ले, तब भेद न खुल जाएगा? लोकतंत्र में डिग्री से क्या मतलब? मतलब तो वोट से है। इसमें इतिहास और भूगोल की क्या जरूरत है? सन् 1947 से पहले पाकिस्तान नाम का कोई मुल्क था ही नहीं, इस जानकारी से इन्हें क्या लेना-देना? इसलिए इस जमात का सेकुलर धंधेबाज अखंड भारत के सिंधु प्रांत में सन् 1924 में जन्मे एक प्रख्यात राष्ट्रनेता को बेशर्मी से 'पाकिस्तानी' करार देता रहा। आखिर बेशर्मी किस दिन काम आएगी? जुबान तो घिसने से रही। बहुत पूछोगे तो 'हुप-हुप' करने लग जाएगा। अपनी अज्ञता को छिपाने का उसका यह 'बीजमंत्र' है।

इसी सेकुलर जमात का नौनिहाल कुछ दिन पहले कह रहा था कि 'मैं तो जब 14 साल का ही था। मेरी तो तब मूँछ भी नहीं आई थी, तब मैं यह अपराध कैसे कर सकता था? देखो, न सेकुलर बचपन से ही कैसे-कैसे तर्क जुटा लेते हैं। इस सेकुलर वारिस ने अनजाने में ही सही, चैनली बहस के लिए एक नया दरवाजा खोल दिया कि 'निर्मुच्छ तो कभी अपराध करता ही नहीं।' सारे अपराध तो मूँछों वाले करते हैं। चैनलवाले चाहें तो, इस मुद्दे पर कई दिन बहस करा सकते हैं। खुद की प्रशंसा करते रहने वाले इस वोटलिप्सु सेकुलर ने भारत की राजनीति में जाति-मजहब की एक नई ब्रांड उतारी है। सच पूछो तो भारत की राजनीति में आया यह भ्रष्ट धंधेबाज, 'सेकुलर शब्द' की सही वर्तनी भी नहीं जानता, पर वोट पकड़ू राजनीति में यह परम-धुरंधर है। अपने विरोधियों पर 'सेकुलर' शब्द का प्रयोग यह गदा-प्रहार रूप में करता है। बीच-बीच में यह 'कम्युनल' चिल्लाने लगता है। पर वह इन दोनों शब्दों के इतिहास,

अर्थ, संदर्भ और प्रसंग-प्रयोग से भी अनभिज्ञ है। बस इन दो शब्दों के इतिहास, अर्थ, संदर्भ और प्रसंग-प्रयोग से भी अनभिज्ञ है। बस इन दो शब्दों का मज़ाकिया प्रयोग करते-करते यह सेकुलर राजनीति का सिरमौर बन गया है। यह पक्का खादी-प्रेमी और विशुद्ध शाकाहारी है। कंदमूल, फल-फूल और वनस्पति के साग-पात खाने से बड़ा शाकाहारी और कौन हो सकता है? पर, दुष्ट प्रवृत्ति के ईर्ष्यालु लोग कहते हैं यह 'चाराखोर' है। ऐसा कहना ठीक नहीं है। भई, कहना ही था तो उसे 'चाराहारी' कह सकते थे। चारा भी तो स्थूल साग-पात का सूक्ष्म रूप है। इस दृष्टि से वह 'सूक्ष्माहारी' कहलाने का भी हकदार है।

सेकुलरिस्टों की पाँचवीं जमात अंतरराष्ट्रीय बिरादरी की है। खुद को प्रगतिशील कहलाने वाले इन दुर्गतिशीलों को भारत में कम्युनिस्ट कहा जाता है। यूँ अंग्रेजी भाषा के 'कम्युनिस्ट कम्यून और कम्युनल', इन तीनों शब्द की धातु एक है। हालाँकि कम्युनिस्ट अपने बौद्धिक तर्कों के लिए जाने जाते हैं, पर 'सेकुलरिया' पहचान पाकर ये बिल्कुल बेनकाब हो गए हैं। मार्क्सवादी बौद्धिक गुलामी ने इन्हें कहीं का नहीं रखा है। न तो ये घर के हैं, न ही घाट के। 'वंदेमातरम्' के मातृ-संस्कार से विमुख होकर ये भारत-भाव के विरोधी हो गए हैं। कार्लमार्क्स द्वारा अपनी पुस्तक में की गई भारत-विरोधी कुछ अनर्गल टिप्पणियों से प्रभावित होकर इन्होंने 'भारत' को न समझने की शपथ खा ली है। ये 'वंदेमातरम्' का आदर नहीं करते। इनके वैचारिक पिता विदेशी हैं। किसी स्वदेशी ऋषि-मुनि-विचारक-विद्वान् और महापुरुष में इनकी आस्था नहीं है। पिता को ही जानना था तो 'माँ के कथन' से बड़ा प्रमाण क्या हो सकता था? पर, ये माँ का आदर करना सीखें, तभी न!

भारत की स्वाधीनता में इन बौद्धिक गुलामों का कोई योगदान नहीं है। हाँ, अंग्रेजों के हित में ये मुखबिरी जरूर करते रहे हैं। भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के ऐतिहासिक सत्य को इन्होंने बहुत दिनों तक स्वीकार ही नहीं किया था। इनकी देशनिष्ठा संदेहास्पद है। सन् 1962 में आक्रमणकारी चीनी सेना के लिए इन्होंने 'मुक्ति सेना' शब्दों का प्रयोग कर उनका स्वागत किया था। ये इसी मिट्टी का खाते हैं और देश के सीने पर जख्म करने वाली राजनीतिक चालें चलते हैं।

सेकुलरियों का छठा वर्ग 'वर्णसंकर' है। पाकिस्तानी जीत पर खुशी मनाने वाले, भारत भूमि के कई जयचंद और पाकिस्तान से धन-पोषण पाने वाले मीडिया और पत्रकारिता के कई 'बुद्धिजीवी' इसमें शामिल हैं। राष्ट्रीय भाव के विरुद्ध लिखना, पत्र छापना, पाकिस्तान-चीन के लिए ठकुरसुहाती करना, आतंकवादियों के मानवाधिकारों की बात करना और दुश्मन मुल्कों से धन-राशि इनके सेकुलर स्वभाव में शामिल हैं। राष्ट्रीय कार्यक्रमों को बाधित करने के लिए 'मानव शृंखला' बनाना और साल में एक बार भारत-पाक सीमा पर पहुँचकर 'मोमबत्तियाँ जलाना' इनके देश-विरोधी कर्मकांड का हिस्सा है।

ये छहों सेकुलर गिरोह 'षडंगी सेकुलर' कहलाते हैं, और राष्ट्र की ऐसी-तैसी करने के लिए आपस में भाईचारा बनाए रखते हैं। भ्रष्टाचार का चारा मिलकर खाना, इनका भाईचारा है।

सबसे पुरानी सेकुलर जमात में सबकी गुणगाथा तो नहीं कही जा सकती, पर दो ही नमूनों से इस नस्ल का अनुमान लगाया जा सकता है। इस जमात का एक जाना-माना सेकुलर वीर, आतंकवादियों के नाम के साथ 'जी' लगाने का आदी है। इस खाँटी सेकुलर को यह पता है कि भारत में चार आदरणीय वर्गों/व्यक्तियों के लिए 'जी' लगाने की परंपरा है। माता-पिता, परिवार के बड़े जन या अभ्यागत आदरणीय अतिथि के लिए 'जी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अपने गुरु, शिक्षक, प्रबोधक, उपदेशक और निःस्वार्थ समाज सेवकों तथा महापुरुषों के नाम के साथ भी 'जी' लगाने की परंपरा है। व्यावहारिक आदर के लिए कर्जदाता के नाम के साथ 'जी' लगाया जाता है। परिवार के 'दामाद' के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए उनके नाम के साथ 'जी' लगाने की विनम्रता है। अंतरराष्ट्रीय अपराधी ओसामा-बिन-लादेन के नाम के साथ 'जी' लगाने वाले इस 'सेकुलर रत्न' से देश यह जानना चाहता है कि इस आतंकवादी के साथ इनका क्या रिश्ता रहा जो उनके नाम के साथ उन्हें 'जी' लगाना पड़ा। एक दूसरे 'सेकुलर नवरत्न' के राजनीतिक स्तर का अनुमान लगाया जा सकता हे कि वह किस कुलशील का वंशधर है? देश की सर्वोच्च क्रियाशील सैन्य शक्ति के प्रतीक पुरुष के विरुद्ध अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करना भारत राष्ट्र की शानदार शौर्य-परंपरा को गाली देना है। यदि यह सेकुलर शख्स किसी और देश में होता तो अब तक सींखचों के पीछे अपना जीवन बिता रहा होता। अब भारत के जन-मानस को यह तय करना है कि राष्ट्र की राजनीति के इन सेकुलर दलालों के होने का औचित्य क्या है? सेकुलर का आचरण ही सेकुलरिज्म है। मात्र वोटकामी इन राजनीतिक धंधेबाजों के निकृष्ट एवं तर्कहीन आचरण को देखकर ऐसा लगता है कि आगे चलकर कहीं 'सेकुलर' शब्द इनके प्रति तिरस्कार और गाली का सूचक न हो जाए। ऐसी स्थिति वोटतंत्र के इतिहास के लिए सर्वाधिक अशुभ होगी जब किसी 'सेकुलर धंधेबाज' को आता देखकर लोग कहना शुरू कर देंगे कि लो! साऽऽऽ ... 'सेकुलर' आ रहा है!

तुलसी का परंपरावाद

शोभाकांत झा*

वादी, निवादी, प्रगतिवादी लोग फतवा देने में बड़े माहिर होते हैं। किसी को अतीतजीवी तो किसी को परंपरावादी, ब्राह्मणवादी आदि कहने में थोड़ा भी परहेज नहीं करते। खेमेबाज लोग तुलसी के समूचेपन से बिना साक्षात्कार किए अथवा पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर उन्हें परंपरावादी कहने में जरा भी संकोच नहीं करते। वैसे परंपरावादी होना न बुरी बात है न आधुनिकता विरोधी होना माना जा सकता। रूढ़ि और आधुनिकता में विरोध है, किंतु परंपरा और आधुनिकता में कतई नहीं। परंपरा नदी की धारा की तरह है। उसकी धारा बदलाव की तथा नव-नव स्थापित मूल्यों, प्रयोगों एवं परिपाटियों की निरंतरता है।

तुलसी के समग्र पर जरा विचार करें तो वे परंपरा का सम्मान करते हैं। नानापुराण निगमागम के सम्मत का आदर करते हैं, पर उनकी रूढ़ियों का नहीं। उनकी पिटी-पिटाई परिपाटियों, कालातीत मूल्यों को तुलसी का काव्य-विवेक अस्वीकृत करता है। जो बातें उन्हें नहीं जँचतीं, लोक-संग्रह की दृष्टि से त्याज्य लगती हैं उन्हें छोड़कर वे आगे बढ़ जाते हैं। परंपरा जब आधुनिकता पर और अतीत वर्तमान पर बोझ साबित होने लगे, रचनात्मकता को बाधित करे तो उन्हें छोड़ना ही उचित है। भारवाहिता ठीक नहीं।

तुलसी का सचेत मानस व्यर्थ बोझ ढोने से बचता है। शंबूक वध, सीता पाताल प्रवेश, इधर-उधर की बीसियों बातों को वे रामायण में ही छोड़ देते हैं। वे उन्हीं घटनाओं एवं कथ्यों से आगे बढ़ाते हैं जो लोकमंगल के साधक हैं। वहन नहीं, धारण करने योग्य हैं। धर्म को लोक धारण करते हैं, क्योंकि वह लोक को धारण करता है। समग्र सृष्टि एक प्रकार के धर्म से अनुप्राणित और गतिमान है। एक व्यवस्था से संचालित और अस्तित्ववान है। आडंबर और रूढ़ि रहित धर्म मानस को मान्य है। भक्त तुलसी वेद-पुराण की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हैं —'वेद पुराण उदधि पनसाधु।'

* डॉ. शोभाकांत झा, कुशालपुर, रायपुर-492001 (छत्तीगढ़), फोन - 0771-2243530

अगम अथाह वेद-पुराण के भीतर से तुलसी मेघरूपी साधु बनकर मीठे जल को वरसाते हैं। स्वामी करपात्री जी, जो सनातन धर्मी हैं, उन्होंने लिखा है—''परंपरा का तात्पर्य किसी सिद्धांत को यदि शब्दशः स्वीकार करना हो तो इस प्रकार की परंपरावादिता गोस्वामी जी में नहीं है। इसे निःसंकोच मानूँगा। परंपरा के प्रति ऐसा आग्रह जड़ता ही है। परंपरावादियों के इस दुराग्रह से तुलसीदास परिचित थे।'' — रामायण मीमांसा, पृ. 785

वस्तुतः जड़ परंपरा के प्रति आग्रह अथवा चली आती हुई रामकथा का शब्दशः स्वीकार 'मानस' में कहीं नहीं है। उनका परंपरावाद उस स्रोतस्विनी की तरह से है, जो अपनी गंगोत्री से निरंतर ग्रहण करती रहती है—जुड़ी रहती है और इधर-उधर से आए नित्य नूतन जल से अपने किनारों को सिंचित करती रहती है। तभी तो छह सौ वर्ष बीत जाने पर भी कलिकाल का प्रतिकूल दबाव रोज-ब-रोज बढ़ते जाने पर भी उसी अनुपात में गाँव-गाँव, शहर-नगर, दूरदर्शन के विभिन्न माध्यमों पर 'मानस' के गायन-प्रवचन में बढ़ोत्तरी हुई है। उसे बार-बार कहने-सुनने पर भी न वक्ता अघाते हैं, न श्रोता। इनके क्या कारण हो सकते हैं? पहला तो यह हो सकता है कि तुलसी ने परंपरागत राम-कथा में आधुनिक भाव-बोध का रसायन मिलाकर नई रामायण लिखी है। वाल्मीकि का नया अवतार कराया है—*वाल्मीकि तुलसी भयो।* दूसरा कारण, नाना पुराण निगमागम के सम्मत में तुलसी के अन्यत का मधु मिश्रण हो सकता है। देश-काल के शर से विद्व गोस्वामी जी का संवेदनशील सचेत मानस संभवतः दुर्दशाग्रस्त भारतोद्धार के लिए नए कथ्यों के साथ कथा कहना चाहता है। जागरण का मंत्र देना चाहता है। वह राम कथा को ज्यों-की-त्यों दुहराना नहीं चाहता। पुण्य लूटने के लिए यदि ऐसा होता तो राम-नाम का कीर्तन ही पर्याप्त था—''कलियुग केवल नाम अधारा'' यदि स्वांतः सुख के लिए ही राम-गाथा गानी होती तो वे उसे अवधी भाषा में निबंधन नहीं करते। रचते नहीं। कोई चीज रची जाती है तो उस रचना सुख में दूसरे को शामिल करने के लिए। इन्हीं सब कारणों से गाँव-गाँव जहाँ-तहाँ वाल्मीकि रामायण का पारायण नहीं होता, पर 'मानस' का होता है। मानस के माध्यम से कथावाचक रामायण परंपरा का स्मरण करते हैं, उद्धरण देते हैं, पर गान करते हैं 'मानस' की चौपाइयों का। यही कारण कि 'मानस' की प्रासंगिकता न चुकती है न चुकने वाली है।

वास्तव में जिस अर्थ में तुलसी को लोग परंपरावादी समझते हैं, वे ऐसे हैं नहीं। परंपरा की भारतीय समझ भी भिन्न किस्म की है — इतिहास-बोध की तरह। यहाँ का इतिहास-बोध पूर्ववृत्त के संग-संग धर्मार्थ, काम, मोक्ष का भी बोध है—

धर्मार्थिकाममोक्षाणांमुपदेश समन्वितम्।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥ — पुराण

परंपरा भी 'ट्रेडिशन' नहीं – परिपाटीबद्धता नहीं, अपितु बेहतर का सातत्य है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र का मंतव्य है–''परंपरा में सनातन का आग्रह नहीं, सनातन की खोज है। परंपरा वही है जो उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर हो। उसमें त्याग और ग्रहण दोनों होंगे।'' – नैरंतर्य की चुनौती, पृ. 48

तुलसी का परंपरावाद उत्कृष्टता की पहचान करता है। आगत-अनागत के परिप्रेक्ष्य में विचार करता है। तब संग्रह-त्याग वृत्ति को अपनाकर राम-कथा का बखान करता है– *''संग्रह त्याग कि बिनु पहिचाने।''* दलित, दबे पिछड़ों के लिए तुलसी का परंपरावाद ज्यादा आचरणवान है। संवेदनशील है। जिन आदिवासियों की, दलितों की दुर्दशा पर आज तक ठीक से प्रजातंत्र भी ध्यान नहीं दे सका है, उनके लिए तुलसी का राजतंत्र कितना संवेदनशील रहा है, 'मानस' तो प्रमाण देता ही है, वनवासियों के नाम और तीर-कमान भी चिन्हारी हैं। आतताइयों के आक्रमणों और अत्याचार से पीड़ित तथा उच्च वर्णों से उपेक्षित जो लोग धर्मांतरण कर रहे थे उनके लिए तुलसी की परंपरावादिता नई परंपरा विकसित करती है। आधुनिकता बोध को विकसित करती है। ऊँचे वर्णों को सावधान करती है और छोटों को उठ खड़े होने के लिए बल प्रदान करती है। उनके राम गुह, शबरी, वानर, नर-असुर किसी को भी अपनाने तथा अभयत्व प्रदान करने में अपनी महिमा नहीं समझते। उन पर एहसान भी नहीं लादते, अपितु अपना कर्तव्य समझते हैं। प्रजा का रंजन तो राजा का धर्म है, उपकार नहीं। तुलसी के राम बद्ध परिपाटी से हटकर काम करते हैं, इसलिए वे लोकाभिराम हैं।

''वास्तव में परंपरा का विरोध आधुनिकता से नहीं, क्योंकि परंपरा रूढ़ि नहीं है। आधुनिकता परिवर्तन की प्रामाणिक या उपयोगी पहचान है।'' – डॉ. विद्यानिवास मिश्र, नैरंतर्य की चुनौती, पृ. 48

वस्तुतः तुलसी अपने अतीत को खँगालते हैं, उसमें सनातन का शोध करते हैं। अपनी जड़ को टटोलते हैं और वर्तमान के आमने-सामने आकर रामकथा की नई प्रस्तुति देते हैं। ऐसी प्रस्तुति जो परंपरा को समेटती है और परिवर्तन को प्रेरित करती है। पुरातन और नूतन के बीच सेतु का काम करती है। कालिदास ने साफ-साफ कहा है कि पुराना या नया होना अच्छे-बुरे की पहचान नहीं। बुद्धिमान विवेकपूर्वक अच्छे-बुरे की पहचान करते हैं–

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापिकाव्यंनवमित्यवद्यम्।
संतः परीक्ष्यांतरद् भजंते मूढ़परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ – अभिज्ञानशाकुंतलम्

तुलसी का काव्य-विवेक एवं उनकी अंतर्दृष्टि अतीत और अद्यतन के संग्रह-त्याग में सतत सक्रिय रहते हैं। प्रायः प्रत्येक मौलिक कवि-दृष्टि इस प्रक्रिया से गुजरती है। रामायणकार से विलग नई दृष्टि अध्यात्म रामायणकार की है। 'मानस' की नवता से भिन्न मैथिलीशरण का साकेत है। तात्पर्य यह कि ऊषा पुरानी होकर भी रोज नई

लगती है, क्योंकि हर मौसम अपने अनुरूप ऊषा को भी रूप देता है। ठीक इसी तरह रामकथा के आदि स्रोत भले ही रामायण है, परंतु परवर्ती रामकाव्य नई-नई व्याख्या बोध के कारण अपनी अलग पहचान रखते हैं। 'साकेत' से अलग पहचान 'राम की शक्ति पूजा' रखती है। रामकथा इतिहास नहीं, इतिवृत्त है। इतिवृत्त इदमित्थं से भिन्न होता है। उसमें अनेक संभावनाएँ निहित होती हैं। उसके कलेवर में जगह-जगह पोलापन होता है। ''रचनाकार एक गहरी अंतर्दृष्टि से जाते हुए प्रसिद्ध घटनाक्रम में जो खाली जगहें हैं, उन्हें भरता है, तभी इतिवृत्त पूरा होता है।''

— डॉ. विद्यानिवास मिश्र, नैरंतर्य की चुनौती, पृ. 24

तुलसी बाबा ने अपनी गहरी अंतर्दृष्टि से, सचेत मानस और सुहानी सोच से प्रसिद्ध रामायणी इतिवृत्त को तराशा है, भरा है और नया रचा है। सबके लिए रंजिनी, दुःखभंजिनी, विश्रामदायिनी कथा। इसे निःसंकोच स्वीकारा जा सकता है कि तुलसी का परंपरावाद बंधन नहीं, मुक्ति है। अतीत नहीं, सनातन है। वह रूढ़िमुक्त और आधुनितायुक्त है। वह सम्मत और अन्यत की अनपायिनी सृष्टि है। वह मर्यादा में रहकर नई-नई मर्यादा बनाती है। अच्छी परंपरा अपने भीतर से नई परंपरा विकसित करता है। तभी वह परंपरा सनातन बन सकती है। वह प्रयोग को प्रेरित करती है ताकि परंपरा की कड़ी टूटे नहीं। अपने अतीत से परंपराओं से वे लोग नाक-भौं सिकोड़ते हैं, जो उन्हें जानते नहीं या उन्हें जानना नहीं चाहते। जो संस्कार भ्रष्ट हैं, पुरखौती पर गर्व करना नहीं जानते, पाश्चात्य मानस के मानस पुत्र हैं, तथाकथित प्रगतिवादी और जुनूनग्रस्त क्रांतिकारी हैं, वे लोग भी परंपरा से चिढ़ते हैं—जैसे लाल झंडा देखकर साँड़ भड़कता है। जो वर्तमान में ही हमेशा रहना चाहते हैं, यथार्थ को ही सार्वकालिक सत्य समझते हैं, उनके लिए निर्मल वर्मा का यह मंतव्य कोई मतलब नहीं रखता—''अगर मुझसे कोई नरक की परिभाषा पूछे, तो वह है, हमेशा वर्तमान में रहना, एक अंतहीन रोशनी, जहाँ कोई छाया नहीं, जहाँ आदमी हमेशा आँखें खोले रहता है—नींद, स्वप्न और अँधेरे को भूलकर।'' — मैं पहले भी यहाँ आया हूँ। (सं. : राजेंद्र मिश्र, पृ. 12)

खालसा

किशोरीलाल न्यास

चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊँ,
सवा लाख से एक भिड़ाऊँ,
तब गोबिंद सिंह नाम कहाऊँ।

× × ×

देहु शिवा वर मोहि इहै
शुभ करमन से कबहू न टरों।

× × ×

चुकार अज हयह हीलते दर गुजरत।
हलालस्तु घुरदन शमशेर दस्त ॥
जब नीति के सारे साधन व्यर्थ हो जाएँ
तो तलवार का सहारा लेना सभी तरह से जायज है।

औरंगजेब सारे हिंदुस्तान को इस्लामिक बनाने की ठान चुका था। शहंशाह अकबर की नीति के विरुद्ध उसके मन पर इस्लाम का जुनून शुरू से ही सवार हो चुका था, वह अपने जीवन काल में अधिक-से-अधिक हिंदुओं को तलवार के जोर पर इस्लाम में दीक्षित कर देना चाहता था। इसके लिए उसने सारे उपाय अपनाए। हिंदुओं को बड़ी संख्या में तलवार के घाट उतारा, उन पर जजिया लगाया, उनको कैद किया, पीड़ित किया, डराया-धमकाया तथा राजस्थान-गुजरात से लेकर बंगाल तक इस्लाम का झंडा फहराया। औरंगजेब ने हिंदुओं के अनेक मंदिर ध्वस्त किए। सन् 1969 में उसने एक फरमान जारी किया – काफिरों की सारी पाठशालाएँ और मंदिर नष्ट कर दिए जाएँ और उनकी मजहबी तालीम रोक दी जाए। उनके पूजा-पाठ रोक दिए जाएँ।

* प्रो. किशोरीलाल व्यास, पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, पता : फ्लैट नंबर 6, ब्लॉक संख्या 3, केंद्रीय बिहार, मियापुर, हैदराबाद-500049, फोन : 040-23044660

सोमनाथ का विश्व-प्रसिद्ध शिव मंदिर महमूद गजनबी ने लूटा और नष्ट किया था, पर राजा भीमदेव ने उसका पुनर्निर्माण किया था। वहाँ पूजा-अर्चना पुनः प्रारंभ हो गई थी। औरंगजेब ने सोमनाथ मंदिर फिर मिट्टी में मिला दिया।

काशी के प्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिर को गिराकर, उस स्थान पर औरंगजेब ने मस्जिद बनवा दी, जिसका नाम ज्ञानवापी मस्जिद है।

मथुरा का प्रसिद्ध कृष्ण मंदिर वीरसिंह बुंदेला ने लाखों रुपये खर्च कर बनवाया था। औरंगजेब की आज्ञा से उसे तोड़कर मस्जिद बनाई गई। मंदिर में स्थित मूर्तियों को तोड़कर, उन टुकड़ों को जहाँनारा मस्जिद की सीढ़ियों में चिनवा दिया, जिससे मुसलमान उनको खुंदलता हुआ गुजरे और हिंदू जन सदैव के लिए अपमानित-लांछित अनुभव करता रहे। इससे हिंदुओं का मनोबल टूटता रहे।

मथुरा, उज्जैन, मालवा आदि के सारे मंदिरों को औरंगजेब ने जमींदोज करवा दिया। मंदिरों की जमीन तथा संपत्ति पर अधिकार कर लिया। गाजी औरंगजेब ने ओड़िशा, राजस्थान, गुजरात के सारे प्रसिद्ध मंदिरों को ध्वस्त करवा दिया।

उदयपुर पर आक्रमण कर वहाँ के 182 मंदिर ध्वस्त किए। चित्तौड़ के 63 और अंबर के 66 मंदिर उसने ध्वस्त करवाए। इस प्रकार छोटे-बड़े मंदिरों को ध्वस्त करने की सूची काफी लंबी है। इतना विनाश करने से हिंदुओं में आतंक फैला, उनका मनोबल गिरा, लेकिन जहाँ भी संभव हुआ हिंदुओं ने संगठित होकर अपने प्राणों की आहुति दी। उनके सामने शर्त रखी गई – मजहब बदलकर मुसलमान हो जाओ, या कट जाओ। हिंदुओं ने लड़कर मर जाना बेहतर समझा, किंतु स्वधर्म नहीं त्यागा। टूटे हुए मंदिरों की सीढ़ियाँ हिंदुओं के रक्त से रँग गईं, चारों ओर वीर हिंदुओं की लाशें बिछ गईं, लेकिन उन्होंने अत्यल्प संख्या में रहकर भी विशाल मुगलसेना का मुकाबला किया।

औरंगजेब ने हिंदुओं पर जजिया लगा दिया। विशेषकर, गरीब लोग जजिया देने में असमर्थ थे, तब उनके सामने प्रस्ताव रखा गया कि वे इस्लाम स्वीकार कर लें। मजबूरी में कई हिंदू मुसलमान बन गए। हिंदुओं ने, औरंगजेब जब हर शुक्रवार हाथी पर बैठकर नमाज पढ़ने जाता, तब रास्ते में खड़े होकर, अपनी व्यथा सुनाई। इस पर औरंगजेब ने महावत को हाथी आगे बढ़ाने की आज्ञा दी। लोगों को पैरों तले कुचलता हाथी निकल गया। हजारों लोग मारे गए। रास्ते हिंदू रक्त से रंजित हो गए। औरंगजेब सुन्नी मुसलमान था, अतः उसने कई शियाओं के भी सर काट दिए। दिल्ली की जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर पड़े रहने वाले नंगे फकीर सरमद को उसने गला काटकर मरवा दिया। क्योंकि उसने कहा 'अनहलक' वानी मैं ईश्वर हूँ।

दरअसल, औरंगजेब बहुत महत्त्वाकांक्षी, धर्मांध एवं कट्टर सुन्नी था। औरंगजेब अन्य धर्मों के प्रति बिल्कुल असहिष्णु था। उसने दक्षिण की रियासतों-बीजापुर और गोलकोंडा को इसीलिए उजाड़ दिया कि उसके शासक शिया धर्मावलंबी थे। बीजापुर

में 29 सितंबर, 1686 को प्रवेश कर आदिलशाह महल की दीवारों पर लिखे सारे शिलालेखों, चित्रों और बहुमूल्य कला-सामग्रियों को मटियामेट कर दिया। बीजापुर में उसने कत्लेआम मचाया। उसे पूरी तरह से उजाड़ दिया।

गोलकोंडा का शासक अबुलहसन तानेशा भी शिया था। मुगल सेना ने गोलकोंडा को घेर लिया। गोलकोंडा निवासियों ने किले के फाटक बंद कर दिए। औरंगजेब ने एक अफगान नौकर अब्दुल्ला को घूस देकर, रात में दरवाजा खुलवा लिया। 2 अक्टूबर, 1687 को रात के 3 बजे किले में अचानक प्रवेश कर, मुगल सैनिकों ने हजारों शियाओं को मार डाला और किला जीत लिया। सारा वैभव लूट लिया गया शहर मटियामेट कर दिया गया।

औरंगजेब अपने बचपन से ही कुचक्री था। शाहजहाँ ने उसे दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेज दिया था। मुराद को गुजरात और शुजा को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया था। सबसे बड़े पुत्र दारा को, जो बड़ा सहिष्णु एवं विद्वान था, अपने पास दिल्ली में रखा था। वह बादशाह का चहेता पुत्र था। जब बादशाह शाहजहाँ के बीमार होने की खबर उड़ी तो तीनों पुत्र मुगल साम्राज्य पर अधिकार जमाने, अपनी-अपनी सेना लेकर निकले। रास्ते में औरंगजेब ने मुराद से कहा—मैं तो फकीर हूँ। मुझे राज्य से क्या काम? मैं तो चाहता हूँ, 'हिंदूपरस्त दारा मुगलियों सल्तनत का बादशाह न बने।' इस प्रकार बरगलाकर, मुराद की सेना को अपनी सेना के साथ मिला लिया और मुराद को शराब में जहर देकर मार डाला। उधर शुजा को भारत छोड़कर भागना पड़ा, जहाँ वर्मा में अराकान के जंगलों में एक शेर ने उसे मार दिया। इस प्रकार दोनों भाई मुराद और शुजा मारे गए। औरंगजेब की राह के दो काँटे तो साफ हुए। अब वह विशाल सेना लेकर दिल्ली पर चढ़ बैठा। वहाँ उसके हितैषी बैठे ही थे। उसने अपने पिता शाहजहान को कैद कर लिया। दारा का पीछा किया और उसको बुरी तरह मारकर, उसका सिर काटकर दिल्ली दरवाजे पर लटका दिया। दारा औरंगजेब का सबसे बड़ा भाई था। यदि दारा बादशाह बनता तो हिंदुस्तान का इतिहास दूसरा होता। एक ओर राजा रामचंद्र के लिए भरत गद्दी का त्यागकर, चौदह वर्ष खड़ाऊ राजगद्दी पर रखकर, राज्य करते हैं – दूसरी ओर औरंगजेब अपने तीन बड़े भाइयों को मारकर मुगलिया सल्तनत हासिल करता है।

औरंगजेब का सबसे बड़ा पुत्र था – मुहम्मद सुल्तान। उसे भी औरंगजेब ने बंदी बना लिया। ग्वालियर किले में 12 वर्ष बंदी रहकर 38 वर्ष की उम्र में वह मर गया।

उसका दूसरा पुत्र था – मुअज्जम। उसको औरंगजेब शक की निगाह से देखता था। उसे औरंगजेब ने अफगानिस्तान भेज दिया। तीसरा पुत्र मुहम्मद आजम अयोग्य और अभिमानी था। उसके बादशाह बनने के कोई लक्षण नहीं थे। चौथा पुत्र अकबर था। वह भी अल्प आयु में ही मौत का शिकार हुआ। औरंगजेब ने अपनी बहन तथा

बेटी जेबुन्निसा को भी कैद में डाल दिया। शक्की औरंगजेब किसी पर विश्वास नहीं करता था न अपनों पर, न पराये पर।

औरंगजेब कट्टर मुसलमान था। वह शराब नहीं पीता था। टोपियाँ सीकर और कुरान की प्रतियाँ लिखकर अपनी जीविका चलाता था। सादा जीवन जीता था। लेकिन इस सादगी का क्या अर्थ? जीवनभर उसने कुकर्म किए। खून बहाया। हिंदुओं, सिखों, राजपूतों, शियाओं, इस्माइलिओं, बोहराओं को और अन्य विधर्मियों को बुरी तरह से मारा। उसके हाथ निरपराधों के रक्त से रँगे हुए थे। उसके सफेद सीधे सादे कपड़े अदृश्य खून से भीगे हुए थे। उसकी आत्मा तक रक्तरंजित हो चुकी थी। वह जल्लादों का जल्लाद था।

औरंगजेब ने चारों ओर अपने दुश्मन पैदा कर लिए – घर में भी, बाहर भी। वह अव्वल दर्जे का शक्की इंसान था। किसी पर भरोसा नहीं करता था। पंजाब में सिखों को, राजस्थान में राजपूतों को, दक्षिण में मराठों को, बुंदेलखंड में बुंदेलों को – यानी कि सभी को उसने अपना दुश्मन बना लिया।

चारों ओर अराजकता और युद्ध का वातावरण था। चारों ओर रक्तपात हिंसा, अनाचार अत्याचार फैला हुआ था। औरंगजेब स्वयं अफगानिस्तान से दक्षिण तक भागता फिरता था। दक्षिण में मराठों ने गुरिल्ला युद्ध द्वारा विशाल मुगल सैनिकों के छक्के छुड़ा दिए। अंततः औरंगजेब मराठों से लड़ने दक्षिण में आया और औरंगाबाद में ही मृत्यु को सन् 1707 में प्राप्त हुआ। औरंगाबाद में एक सीधी-सादी मजार बनी हुई है उसकी।

विशाल और वैभवशाली मुगल साम्राज्य को अपनी नीतियों से औरंगजेब ने छिन्न-छिन्न कर दिया। अत्यंत वैभवशाली मुगलों की परंपरा को उसने हिंदुस्तान को 'दारूल इस्लाम' बनाने का पूरा प्रयत्न किया, लेकिन असंगठित हिंदुओं ने भी उसके छक्के छुड़ा दिए। आखिर, पछतावा हुआ, अपने किए हुए पापों का प्रायश्चित्त करता हुआ – वह बेचैन आत्मा अस्सी वर्ष की लंबी उमर पाकर खाके सुपुर्द हुआ। इतिहास का एक भयानक पृष्ठ समाप्त हुआ। वह जीवन-भर दगाबाज, धूर्त, फरेबी, मक्कार और षड्यंत्रकारी बना रहा। एक बादशाह होकर भी उसने भिखारी का जीवन जिया। लाखों पीड़ितों की बददुआएँ ली।

वह संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि उत्तम कलाओं का जीवन-भर विरोधी और विनाशक बना रहा। 'साहित्य, संगीत-कला विहीन, साक्षात् पशु पुच्छविषाण हीनः।' वह एक धार्मिक उन्मादी था – साक्षात् पशु।

सिखों के साथ औरंगजेब के संघर्ष का इतिहास बड़ा लोमहर्षक है। औरंगजेब जीवन-भर इस प्रयत्न में रहा कि सिखों के गुरु इस्लाम कबूल कर ले तो सिखों का बहुत बड़ा समुदाय स्वयमेव मुसलमान बन जाएगा। पर सिखों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी बलिदान देकर, औरंगजेब की इस आकांक्षा को विफल कर दिया। सिखों का समग्र

इतिहास बलिदानों का इतिहास है।

कश्मीर उस समय विद्या और दर्शन का बड़ा केंद्र था। कश्मीर के ब्राह्मण अपनी विद्वत्ता, निष्ठा और दार्शनिक चिंतन के लिए प्रसिद्ध थे। औरंगजेब ने सोचा यदि कश्मीर के ब्राह्मणों से इस्लाम कबूल करवा लिया जाए तो बहुत बड़ी संख्या में लोग मुसलमान बन जाएँगे। अतः उसने कश्मीर के ब्राह्मणों पर अत्याचार करना आरंभ किया। प्रतिदिन सहस्रों ब्राह्मण परिवारों को मौत के घाट उतारा जाता। कहते हैं —'जब मरे हुए ब्राह्मणों की जनेऊ का वजन बारह सेर होता तभी औरंगजेब भोजन करता, इस प्रकार के भयंकर रक्तपात से ब्राह्मण त्रस्त हो गए। कइयों ने इस्लाम कबूल कर लिया। कई लोगों ने परिवार समेत आत्महत्या कर ली।

तब ब्राह्मणों का एक प्रतिनिधि मंडल सिखों के नवम गुरु-तेगबहादुर की शरण में जा पहुँचा। उस युग में, धर्म की रक्षा में समर्थ, एक ही तेजस्वी पुरुष उनकी नजरों में बना हुआ था। पंडितों ने जब उनकी शरण में जाकर प्रार्थना की —'महाराज, हम पर औरंगजेब अमानुषिक अत्याचार कर रहा है। हमें इस्लाम कबूल करने के लिए मजबूर किया जा रहा है। ऐसे में आप ही एक तेजस्वी पुरुष हैं। जो हमें औरंगजेब के अत्याचारों से बचा सकते हैं।''

इस पर गुरु तेगबहादुर ध्यानावस्थित हुए। कुछ क्षण उपरांत उन्होंने आँखें खोली और गंभीर वाणी में कहा—'पंडितो, यह विकट परिस्थिति है। मुगलों को अपने धर्म और शक्ति का घमंड हो गया है। ऐसे में किसी महापुरुष के बलिदान की आवश्यकता है।'

सब लोग हतप्रभ हो गए। सभा में मौन छा गया।

तब दस वर्षीय गुरु गोविंदसिंह—जो वहाँ बैठे थे, उन्होंने कहा 'पिता श्री, इस समय आपसे बढ़कर तेजस्वी पुरुष कौन है।'

गुरु तेगबहादुर को लगा कि बालक की बात सच है। वे स्वयं औरंगजेब से मिलकर, उसे समझाने के लिए प्रस्तुत हो गए। पंडितों ने धैर्य की साँस ली।

गुरु तेगबहादुर अपने पाँच शिष्यों के साथ निकल पड़े, उन्हें दिल्ली में गिरफ्तार कर लिया गया। गुरुजी को तरह-तरह के प्रलोभन दिए गए कि वे इस्लाम कबूल कर लें। लेकिन गुरुजी ने बड़ी नम्रता से औरंगजेब का प्रस्ताव ठुकरा दिया, वे अपनी बात पर अड़े रहे। उनकी दृढ़ता कम नहीं हुई — मुगलों की यातनाएँ बढ़ती गईं।

गुरु की नजरों के सामने उनके एक-एक शिष्य को खत्म किया गया — ताकि वे घबरा जाए। भाई मतिदास को एक बड़े आरे से खड़ा ही चिरवाया गया। सारी धरती खून-खून हो गई। पर मतिदास आखिरी साँस तक जपुजी का पाठ करते रहे। उसके बाद दूसरे भाई दयाला को एक बड़े देगचे में पानी उबालकर उसमें फेंक दिया गया, इस पर दयाल जी जरा भी न घबराए और सुखमनी का पाठ करते-करते उसी देग में समा गए।

लेकिन गुरुजी शांत बैठे रहे।

दोनों भाइयों की दारुण भयंकर मौत के बाद भाई सतीदास की बारी आई। इन्हें चारों ओर रूई में लपेटकर आग लगा दी गई।

भाई सतीदास भी बिल्कुल विचलित नहीं हुए। मृत्यु को उन्होंने फूलों की तरह गले लगाया। तीनों श्रद्धालु बलिदानी भाइयों को धैर्यपूर्वक मरते देखकर भी गुरुजी शांत रहे। गुरुजी ने कहा—जीना-मरना उस ऊपर वाले के हाथ में है। मैं भी बलि देने को तैयार हूँ। मैं अपना धर्म नहीं बदलूँगा।

तब चाँदनी चौक में, सारे लोगों के सम्मुख गुरुजी के कत्ल का आदेश दिया गया। सब दर्शकगण घबराए हुए, साँसें थामें इस भयंकर घटना को देख रहे थे। आसमान पर काली घटाएँ छाई हुई थीं। तेज हवा चल रही थी, चारों ओर अँधेरा-सा छा गया – मानो प्रकृति भी औरंगजेब के जुल्मों का विरोध अपने तरीके से कर रही हो।

गुरु तेगबहादुर ने जाते-जाते भी अहिंसा की अप्रतिम मिसाल दुनिया के सामने कायम कर दी।

देखने वाले आश्वस्त हो गए कि अब मुगल साम्राज्य के अंतिम दिन आ गए हैं। यह घटना 1675 ई. की है। उस समय गुरुजी की आयु 53 वर्ष की थी।

अंततः गुरु जी की बारी आई।

उनको बीच बाजार में बिठाकर मौलवियों ने कहा कि आप तो चमत्कारी पुरुष हैं। कुछ चमत्कार बतलाइए।

गुरुजी ने नम्रता से कहा—मैं कोई चमत्कारी पुरुष नहीं।

जल्लाद तैयार खड़ा था। गुरुजी ने एक कागज और कलम मँगवाया। उस पर कुछ लिखा और गले में बाँध दिया।

कहा—वही मेरा चमत्कार है।

तब जल्लाद ने मौलवियों के आदेश पर तलवार चलाई। एक ही झटके में गुरु जी का सर धड़ से अलग कर दिया। रक्त का फव्वारा फूट पड़ा। मौलवियों ने चिट्ठी में देखा तो लिखा था—

'सिर दिया पर सिर्र न दिया

अर्थात् सिर दिया, पर धर्म नहीं दिया।'

गुरुजी का सिर कटते ही चारों ओर हाहाकार मच गया। मौलवी भी घबराए। एक शिष्य ने अचानक जान जोखिम में डालकर गुरुजी का सिर गायब कर दिया। वह उस सिर को लेकर आनंदपुर पहुँच। गोविंदसिंह ने उसका दाह-संस्कार किया।

औरंगजेब की आज्ञा से गुरुजी का बलिदान हुआ। आज दिल्ली में उस स्थान 'शीश गंज' गुरुद्वारा बना हुआ है। उसके सामने सिख बलिदानी वीरों के चित्रों की एक प्रदर्शनी लगी हुई है। गुरु तेगबहादुर का बलिदान सिख धर्म के इतिहास में

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से है। वे हिंदू धर्म की 'ढाल' कहलाए।

गुरु तेगबहादुर के बलिदान के बाद भी औरंगजेब की क्रूरता कुछ कम नहीं हुई। उधर गोविंदसिंह जी ने मुगलों की भारी सेना से भिड़ने के लिए अस्त्र-शस्त्र अभ्यास, तपस्या, साधना, संगठन और चिंतन आरंभ कर दिया। गुरु गोविंदसिंह जी ने भारत की सोई हुई आत्मशक्ति को जगाया।

वे महान संत और कर्मयोगी थे। उन्होंने जीवन में कभी राज्य की आकांक्षा नहीं की। गुरुजी के सैनिक शिष्य सैनिक थे। उन सबके लिए लंगर लगा था। लंगर समताबोध आयोजन है। इसमें खान-पान, रहन-सहन में सब समान थे। लंगर में सारे भेद-भाव तिरोहित हो जाते हैं।

गुरुगोविंद सिंह ने सिखों का संगठन शुरू कर दिया। सामान्य जनसमूह में अद्वितीय शक्ति संचार किया। अपने पूर्ववर्ती गुरुओं की 'भक्ति-पद्धति' में शक्ति की आराधना का समावेश किया। गुरु गोविंदसिंह स्वयं दो तलवार धारण करते थे –एक 'पीरी' दूसरी 'मीरी'। उन्होंने 'काल पुरुष' की आराधना की ओर शक्तिमदांध महती मुगल सेना को चुनौती दी–

या कलि में सभ काल कृपान के
भारी भजान को भारी भरोसो। *(दशम ग्रंथ, पृ. 45)*

शत्रु के राज्य में शस्त्र की उपासना अनिवार्य है।

गुरुजी ने शक्ति स्वरूप 'करवाल' की आराधना का प्रावधान किया, उनकी दृष्टि में शस्त्रधारी काल के समान है, निर्विकार है, जो शत्रु का विनाश करता है।

नमो खड्ग खंडं कृपाणं कटारं।
सदा एक रूपं सदा निरविकारं॥ *(दशम ग्रंथ, पृ. 45)*

अपने अनुयायियों से गुरुजी ने कहा – कि वे तलवार को ईश्वर और ईश्वर को ही तलवार मानें। उन्होंने लोहे को सबसे पवित्र बताया।

अपनी प्रसिद्ध रचना 'चंडी चरित्र' (प्रथम) में शिवा अर्थात् देवी से वह वर माँगते हैं कि – मैं शुभ करमों से कभी न डरूँ और युद्ध में जूझता मर जाऊँ।

देहु शिवा वर मोहिं इहै सुभ करमन ते कब हूँ न टरौं।
न डरौं अरि सों जब जाई लरौं निसचै करि अपनी जीत करौं।
अरु सिख हौं अपने ही मन को इह लालच ही गुन तऊ उचरौं।
जब आव की अवध निदान बनै, अति ही रन में तब जूझ मरौं॥

गोविंदसिंह जी ने सिखों में ऐसे वीरता भाव का संचार किया जो आज भी कार्य कर रहा है। उनके भीतर की हीनता के भाव को दूर कर उनमें अटूट आत्मविश्वास का भाव भर दिया। उन्होंने कहा–

चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊँ
सवा लाख से एक भिड़ाऊँ
तब गोविंद सिंह नाम कहाऊँ।

इस प्रकार गोविंदसिंह ने बलिदानी खालसा तैयार किए और उनमें सवा लाख से अकेले लड़ने का साहस भर दिया। यह भावनात्मक आध्यात्मिक परिवर्तन था।

आलमगीर औरंगजेब के अमानुषिक अत्याचारों से पीड़ित होकर गोविंदसिंह जी ने उसे फारसी में दो लंबे पत्र लिखे जो आज भी उपलब्ध हैं–

पहले पत्र में गुरु गोविंदसिंह ने लिखा–

1. औरंगजेब नाम तेरे लिए शोभादायक नहीं है। राजसिंहासन को शोभायमान करने वालों के लिए दगा-फरेब ठीक नहीं है।
2. तुमने अपने पिता की मिट्टी निकृष्ट कर्मों द्वारा अपने भाइयों के लहू से गूँथी है।
3. मैं अब उस अकाल पुरुष की कृपा से लोहे के पानी (तलवार की धार) की ऐसी वर्षा करूँगा कि इस पवित्र भूमि पर अपवित्र चाहरदीवारी (मुगल साम्राज्य) का नामोनिशान मिट जाएगा।
4. क्या हुआ जो गीदड़ ने धोखे से शेर के दो बच्चे (गोविंदसिंह जी के दो पुत्र) मार दिए। जब कि खूँखार शेर अभी तक जीवित है। वह तुमसे बदला ले लेगा।
5. मैं इस प्रकार तुम्हारे पैरों के नीचे आग रखूँगा कि पंजाब में तुझे पानी नहीं मिलेगा।
6. तुम्हारी माला, मनके और धागा और कुछ नहीं, क्योंकि तुम मनकों को दाना बनाते हो और धागों को जाल।
7. जब तक कि खूँखार शेर अभी तक जीवित है। वह तुमसे बदला अवश्य लेगा।
8. तेरी खुदा के नाम की झूठी सौगंधों का मुझे विश्वास नहीं है, मेरी तलवार इस झूठी कसमों से निपटेगी।

दूसरा पत्र 'जफरनामा' भी फारसी में है। यह काफी लंबा है इसमें 1400 शेर हैं। इसमें बहुत ही बातें बेखौफ लिखी हुई हैं–

'जफरनामा' के प्रारंभिक 12 शेरों में गुरु गोविंदसिंह ने निराकार सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान ईश्वर का गुणगान किया है। आठों शेरों में उन्होंने औरंगजेब और उसके सेनापतियों की सौगंधों पर अविश्वास प्रकट किया है। उन्होंने पत्र में चमकौर के उस युद्ध का भी संकेत किया है, जब क्षुधा और प्यास से पीड़ित चालीस लाख सैनिकों पर असंख्य मुगल सेना ने आक्रमण कर उन्हें खत्म कर दिया।

22वें शेर में 'जफरनामा' का प्रसिद्ध वाक्य है–

चुकार अज हमह हीलते दर गुजरत।
हलालस्तु वुरदन शमशेर दस्त ॥

''जब नीति के सभी रास्ते बंद हो जाएँ, तो तलबार का
एक मात्र सहारा सभी दृष्टियों से उचित है।''

46वें शेर में गुरु गोविंदसिंह लिखते हैं–

न तुममें ईमान परस्ती है, न कोई उचित ढंग ही।
तुमने न साहब को पहचाना है, न तुम्हें मुहम्मद पर विश्वास है।'

105 और 106वें शेर में उन्होंने लिखा है–

''तुम्हारी दृष्टि सेना और राज्य पर है, मेरी दृष्टि ईश्वर की कृपा पर है। यदि तुम्हें अपने राज्य, सेना और धन का अभिमान है तो, मुझे ईश्वर का सहारा है।

इस प्रकार ये दोनों पत्र अत्यंत ऐतिहासिक महत्त्व के हैं तथा इनसे औरंगजेब तथा गुरु गोविंदसिंह के चरित्रों पर प्रकाश पड़ता है।

गुरु गोविंदसिंह ने युद्ध को धर्म से समन्वित कर दिया। गुरु गोविंदसिंह ने अपने चार पुत्र खोए। दो युद्ध भूमि में शहीद हुए, तथा दो को जिंदा दीवार में चिनवा दिया गया।

गुरु गोविंदसिंह के दो पुत्र अजीतसिंह और जुझारूसिंह मुगलों के साथ युद्ध लड़ते हुए शहीद हुए।

दो अन्य पुत्र जोरावरसिंह (9 वर्ष) और फतहसिंह (7 वर्ष) को सरहिंद के सूबेदार वजीर खाँ ने इस्लाम कबूल न करने के कारण जिंदा दीवार में चिनवा दिया।

चार-चार वीर पुत्रों को खोकर भी गोविंदसिंह जी ने हिम्मत नहीं हारी और कहा–

'चार मुए तो क्या हुआ
जीवित कई हजार।'

गोविंदसिंह जी का समर्पण, धैर्य एवं उत्साह अद्वितीय था। उनका हृदय आध्यात्मिकता से ओतप्रोत था।

गोविंदसिंह जी की सबसे बड़ी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक देन है –'खालसा चंद्र' का निर्माण। उन्होंने भक्त जाति को, समय एवं परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए एक 'वीर जाति' के रूप में बदल दिया।

खालसा का अर्थ है पवित्र। अर्थात् पवित्र युद्ध के मैदान में खालसा जब उतरता है तब अपने सर पर कफन बाँधकर उतरता है। वह शत्रु के लिए महाकाल साबित होता है। ऐसे खालसा एक-एक वीर सवा लाख शत्रु के बराबर होता है। ऐसे वीरों ने अति अल्प संख्या में रहकर भी मुगलों की विशाल सेना को हरा दिया उनके छक्के

छुड़ा दिए।

12 अप्रैल, 1699 ई. को विभिन्न प्रदेशों से सिख आनंदपुर आ पहुँचे। एक विस्तृत मैदान में उनकी एक विशाल धार्मिक सभा हुई। यह वैशाखी का दिवस था।

गुरु गोविंदसिंह चमचमाती कृपाण लिये मंच पर आए। उन्होंने घोषणा की—'देवी बलिदान चाहती है। कोई ऐसा है जो अपना शीश देने को तैयार हो?'

सभा में मौन छा गया

गोविंदसिंह जी ने अपनी बात दोहराई।

एक व्यक्ति उठा। उसने कहा—'धर्म के लिए मैं अपना सिर देने को प्रस्तुत हूँ।'

वह व्यक्ति था—लाहौर का खत्री भाई दयाराम।

गुरु उसे पर्दे के पीछे ले गए। एक बकरे का बलिदान दिया और रक्त रंजित तलवार लिए हुए फिर आए।

फिर वही प्रश्न छेड़ा गया। तब दिल्ली के जाट धरमदास उठ खड़े हुए। उसे भी गुरुजी भीतर ले गए। फिर रक्त सनी तलवार लेकर बाहर आए। फिर वही प्रश्न दोहराया।

अब की बार - एक के बाद एक - मोहकमचंद, साईबचंद, तथा हिम्मतराम उठ खड़े हुए । गुरुजी उन्हें भीतर ले गए।

फिर थोड़े समय बाद पाँचों को अपने साथ लेकर मंच पर आए। गुरुजी ने कहा—'मैंने इनको मारा नहीं। पर ये पाँचों बलिदानी पंच प्यारे हैं। ये पाँच सिंह हैं। ये खालसा हैं। विशुद्ध हैं। बलिदानी वीर हैं।'

गोविंदसिंह जी ने दुधारे खांडे द्वारा लौह के बाटे में अमृत तैयार कराकर पहले पंच प्यारों को अमृत चखाया। फिर स्वयं अमृत चखा। फिर जिसने भी चाहा अमृत चखकर खालसा बना।

इस प्रकार 80,000 सिखों ने अमृत पान कर खालसा का रूप धारण किया। इस प्रकार वीर बलिदानी खालसा पंथ का निर्माण वैशाखी के दिन हुआ। ये खालसा वीर सदैव कफन सर पर बाँधे, युद्ध के लिए तत्पर रहते।

इस खालसा पंथ ने इतिहास की धारा को ही बदल दिया। मुट्ठी-भर बलिदानी खालसा धर्मावलंबियों ने विशाल मुगल सेना से टक्कर ली तथा उनके छक्के छुड़ा दिए।

इस प्रकार धर्म की रक्षा के लिए गुरु गोविंदसिंह जी ने जिस पंथ का निर्माण किया, उसने मुसलमानों की बाढ़ को रोकने में सफलता पाई। भारत को इस्लामी राज्य बनने से बचा लिया।

इस प्रकार, आततताइयों में रक्षा कर, गुरुजी ने हिंदू धर्म की ऐतिहासिक रक्षा की।

भारत के इतिहास में गुरुगोविंद सिंह जैसा व्यक्तित्व कोई और नहीं हुआ। ये

वीर थे, तपस्वी थे तथा कवि थे। लोक नायक थे, तथा दूर-द्रष्टा भी थे। पंजाबी, ब्रज, फारसी, अरबी आदि भाषाओं पर इनका असाधारण अधिकार था। ये छंद शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने लगभग पंद्रह ग्रंथों की विविध भाषाओं में रचना की है। जिनमें चार प्रबंध-काव्य हैं।

संत, सिपाही और कवि के रूप में गोविंदसिंह जी प्रसिद्ध हुए।

18 अक्टूबर, सन् 1708 को अर्धरात्रि के समय, केवल 42 वर्ष की अल्प आयु में, गुरु गोविंदसिंह ने, गोदावरी के किनारे नांदेड़ नामक स्थल पर अंतिम साँस ली।

एक युगपुरुष का अंत हुआ जिसने इतिहास की धारा को अपने अद्वितीय व्यक्तित्व द्वारा मोड़ लिया।

गुरु गोविंदसिंह जी का संपूर्ण जीवन संघर्ष, अन्याय, अत्याचार, दमन तथा अमानुषिक आतंकवाद के विरुद्ध संघर्ष में बीता।

अपने पवित्र तथा महान संकल्प की सिद्धि के लिए, भयानक परिस्थितियों तथा तन और मन को विचलित कर देने वाली परिस्थितियों के बीच भी उनका साहस, धैर्य और निष्ठा प्राणप्रिय पुत्रों के बलिदान, पूज्य पिता के बलिदान के बावजूद कभी न टूटने वाला दृढ़ मनोरथ, उनके अद्वितीय व्यक्तित्व के साक्षी हैं। अन्याय के सामने न झुकने, न टूटने वाली उनकी बात उनके महान आदर्शों की साक्षी है। गुरुजी ने बिखरे हुए सिख समुदाय से अविजित खालसा सेना का निर्माण किया—जिसका उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता। भारतीय जीवन के धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक व सामाजिक मूल्यों की, जीवन-आस्थाओं की गुरुजी ने अपने प्राण देकर रक्षा की। संगत और पंगत जैसी प्रथाओं को बलवती बनाकर उन्होंने ऊँच-नीच और जातिप्रथा को सदैव के लिए समाप्त कर दिया।

गुरु गोविंदसिंह ने धर्म को राष्ट्रीयता से जोड़कर उत्तर भारत में हिंदू धर्म की रक्षा की। उत्तर में गुरु गोविंदसिंह और दक्षिण में छत्रपति शिवाजी महाराज न हुए होते तो हिंदुस्तान कभी का इस्लामिक राष्ट्र बन जाता।

गुरु गोविंदसिंह केवल एक अप्रतिम योद्धा ही नहीं, वे एक संत पुरुष थे। कला तथा साहित्य के क्षेत्र में भी उनका प्रदेय अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे एक श्रेष्ठ कवि, चित्रकार एवं भाषाविद् भी थे।

गुरुगोविंद सिंह ने तलवार बौर कलम को समान महत्त्व प्रदान करते हुए, उन्हें देवत्व का दर्जा देकर सिख जाति को एक नया और प्रेरणादायक संदेश दिया। उनका संत, कवि या योद्धा का रूप अद्वितीय है।

इस प्रकार, गुरुगोविंद सिंह एक युगपुरुष थे जिन्होंने सारे युग और आने वाली पीढ़ियों को प्रेरित और प्रभावित किया।

सामूहिक संचेतना को अपनी कोख में समेटे हुए इतिहास की धारा अनवरत बढ़ती जाती है—शांत स्थिर मैदानी नदी-सी—कितने ही दुःख-दर्दों को आशा-निराशाओं

को—उत्थान पतनों को भीतर-ही-भीतर सँजोए हुए। पर इतिहास-धारा सदा एक-सी नहीं बहती—मोड़ भी आते हैं उसमें—उबाल और लहरें भी उठती हैं—बाढ़ भी आती है। पर इन सबके बाद पुनः धारा का प्रकृत प्रवाह बनने लगता है—कभी वर्षा होती है तो कभी दर्शन बीजों के कुछ छींटे गिरते हैं। ये दर्शन बीज बड़े विस्फोटक होते हैं—इतिहास धारा की तरंगों को इतना ऊपर उछालते हैं कि सूखे रेगिस्तान भी इनसे आप्लावित हो उठते हैं। चिंतन बीज के स्रोत ऐसे मनीषा-मासक समय की छाती पर हस्ताक्षर करते हैं। पर कुछ वीर अपने रक्त द्वारा इतिहासधारा का जब अभिषेक करते हैं तो रक्त के उबलते हुए बिंदु वह सहन नहीं कर पाती, उसमें उत्ताल तरंगें उठती हैं, तूफान छा जाता है और वह अपना मार्ग बदलकर बढ़ने लगती है।

ऐसे ही वीर समय-चक्र की दिशा बदल देते हैं। भारतीय इतिहास में सिखों के नवम गुरु तेगबहादुर ऐसे ही बलिदानी पुरुष थे।

आलमगीर औरंगजेब ने जब सम्राट अकबर की सहिष्णुता की समन्वयवादी नीति त्यागकर, कट्टरतावादी संकुचित नीति अपनाई तथा सारे भारतवर्ष को इस्लामी बनाने का प्रण लिया, तब उसने मंदिरों-गुरुद्वारों को भूमिसात करना प्रारंभ किया। हिंदुओं को बलात् इस्लाम में शामिल किया जाने लगा—उसके अत्याचारों से जब दिशाएँ काँपने लगीं, हा-हाकार करने लगीं तब एक प्रतिरोधी शक्ति का उदय अवश्यंभावी हो उठा। पर उस युग के हिंदू बिखरे हुए, टूटे हुए और निराश ही नहीं, हर प्रकार से असहाय थे। संगठित शक्ति का अभाव था। ब्राह्मण वर्ग सर्वाधिक त्रस्त था, क्योंकि औरंगजेब जानता था—यदि ब्राह्मणों को इस्लाम में दीक्षित कर लिया गया तो अन्य हिंदुओं को मुसलमान बनाना उतना कठिन न होगा।

ऐसे में गुरु नानकदेव द्वारा स्थापित सिख संप्रदाय के नौवें गुरु तेगबहादुर ही आशा की एक किरण थे। काश्मीर के ब्राह्मणों का एक प्रतिनिधि मंडल इसी आशा से उनके पास आया था कि वे अकेले ही धर्मरक्षा में सक्षम हैं। गुरु तेगबहादुर देव के पहले सिखों के पाँचवें गुरु श्री अर्जुनदेव ने अन्याय के विरोध में अपना बलिदान देकर कार्य संघर्ष के सामने एक आदर्श की स्थापना कर दी थी, साथ ही छठे गुरु हरिगोविंद ने अन्याय-अत्याचार के सशस्त्र प्रतिरोध की भावना को जन्म दे दिया था—पर बलिदान की जिस ओजस्वी परंपरा का सूत्रपात नौवें गुरु तेगबहादुर ने किया, उसके द्वारा समस्त उत्तर भारत के इतिहास में एक नवीन मोड़ उपस्थित हुआ। गुरु तेगबहादुर के रक्त ने दिल्ली की दीवारों को जितनी गहराई से हिला दिया उतना ही उत्साह एवं जोश सिख वीरों में भर दिया। उन्हीं के पुत्र सिखों के दशम गुरु-गुरु गोविंदसिंह ने सिख जाति को भक्त जाति से वीर जाति बना दिया। साधारण भक्तों से उन्हें बलिदानी खालसा बना दिया गया, उनमें यह भाव भर दिया कि एक अकालिया सिख सवा लाख शत्रुओं के बराबर होता है। सिखों को उन्होंने 'सत श्री अकाल' का नारा दिया तथा उन्हें धर्म के लिए प्राण अर्पित करने के लिए दीक्षित

किया। गुरु नानक ने सिख संप्रदाय में छोटे-बड़े का जातिगत भेदभाव दूर कर, समानत्व को व्यावहारिक रूप दिया तो गुरु गोविंदसिंह ने निम्न-से-निम्न जाति के लोगों को खालसा धर्म में दीक्षित कर, उनके भीतर धर्म पर मर-मिटने के भाव को भरकर, उनकी आत्मा को प्रज्वलित कर उन्हें श्रेष्ठतम वीर बना दिया। अनेक युद्धों में इन्हीं निम्न जाति के वीरों ने जो अद्वितीय वीरता प्रदर्शित की वह क्षत्रियों या परंपरागत राजपूतों के शौर्य से किसी भी भाँति कम नहीं थी। इस प्रकार समग्र हिंदू जाति को एक झंडे के नीचे खड़ा कर भेदभाव रहित, समर्पण भाव से मर-मिटने का मार्ग सर्वप्रथम गुरु गोविंद सिंह ने सुझाया। उनकी यह दूर दृष्टि वस्तुतः इतिहास की निर्णायक शक्ति बनी तथा इसी कारण सिख जाति अद्वितीय वीर-जाति बनकर प्रकट हुई। सुप्रसिद्ध इतिहासकार जदुनाथ सरकार ने लिखा है—''गुरु गोविंद सिंह ने सिखों को विशेष मनोरथ के लिए संगठित किया? उनकी मानवीय शक्तियों को अन्य सभी ओर से हटाकर केवल एक दिशा में मोड़ दिया। सिख पूर्ण और स्वतंत्र व्यक्ति न रहे? गुरु गोविंद सिंह ने सिखों की आध्यात्मिक एकता को सांसारिक सफलता का माध्यम बनाकर उन्हें राजनीतिक उन्नति का साधन बना दिया।''

गुरु गोविंद सिंह के संगठन के पीछे तथा सिखों के वीरतापूर्ण आत्म-समर्पण के पीछे प्रत्यक्ष एवं सशक्त रूप से गुरु तेगबहादुर का बलिदान कार्य कर रहा था। उनके रक्त ने मानो शक्ति की नई संभावनाओं के द्वार खोल दिए तथा भावी इतिहास के मार्ग को एक झटके के साथ बदल दिया। वह नाट्य पाठ्य नाटक है, मंच पर इसे प्रस्तुत न किया जाए।

गुरु तेगबहादुर के वीरतापूर्ण बलिदान ने इतिहास की सरल रेखा में प्रवाहमान नदी को एक झटके से बदल दिया। उनकी रक्त की बूँदों से इतिहास की सहस्रों धाराओं का निर्माण हुआ। कालांतर में नरकेसरी गुरुगोविंद सिंह ने मुगलों की विशाल सेना से टक्कर लेने के लिए बलिदानी सिखों की 'खालसा' फौज तैयार की, जिन्होंने वैभवशाली शक्तिशाली मुगल साम्राज्य की ईंट से ईंट बजा दी तथा उसके लिए कफन तैयार कर दिया।

नाटक हानूश और कोणार्क : कलाकार का सत्ता से संघर्ष

शशि पंजाबी*

काव्य का चरम लक्ष्य होता है, आनंद की प्राप्ति। यह आनंद मन की उस स्थिति का नाम है, जहाँ मन अन्य सभी विषयों से निवृत्त होकर अपने-आप में लीन हो जाता है। मन की इस आनंद अवस्था को, मन की मुक्तावस्था कहते हैं। कविता से, नाटक से, उपन्यास से थोड़ी देर के लिए हमारा मन अपने-आप में डूब जाता है, उसे किसी वस्तु का बोध नहीं रहता है। वेदांत में इसे मुक्ति, मोक्ष कहते हैं, योगी तो उसे समाधि कहते हैं और भक्त तो उसे भगवान का साक्षात्कार कहते हैं।

पश्चिम में तो यह प्रश्न पुराने समय में ही उठाया गया कि काव्य का प्रयोजन केवल धर्म के उपदेशक के रूप में उपदेश देना नहीं होता है, वह तो आनंद के साथ उपदेश देता है। साहित्य यदि आनंद के विधान के साथ-साथ उन्नत जीवन की दृष्टि के निर्माण का कार्य नहीं कर सकता तो वह अच्छा और बड़ा साहित्य नहीं है। साहित्य में आनंद मुख्य है, ज्ञान नहीं। यदि ज्ञान उस आनंद का आधार बनता है तो ही साहित्य बड़ा होगा। ''काव्येषु नाटकम् रम्यम्।'' कहकर भरतमुनि ने साहित्य में नाटक को श्रेष्ठ बताया है, वह काव्य-रसिक को परमानंद की स्थिति पर ले जाता है। इसीलिए साहित्य के रस को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है। क्या कोई भी आनंद, विचार-शून्य हो सकता है; नहीं, जो भी उत्तम मानवीय आनंद होगा, उस आनंद के पीछे कहीं-न-कहीं वैचारिक उत्तमता, प्रामाणिकता, उसकी असाधारणता होनी चाहिए। अपनी मानवीय संवेदना को जब तक हम किसी भूमिका पर उदात्त बनाकर स्थापित

* शशि पंजाबी, एसोशिएट प्रोफेसर, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद कविता, शोध-ग्रंथ, अनुवाद, संपादन आदि की तेरह पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाओं में लेखों का प्रकाशन। संपर्क : 202, सिद्धिविनायक फ्लैट्स, भारत कॉलोनी, स्टेडियम रोड, नवरंगपुरा, अहमदाबाद-14, मो. 9904399976

नहीं करते, तब तक बड़े साहित्य का सृजन नहीं कर सकते। यहाँ इसी मानवीय संवेदना के सरोकारों को धर्म और सत्ता के समक्ष जूझते हुए अपनी कला को, कलाकार को और अपनी कलाकृति को जीवन दान देने की जद्दोजहद से रूबरू होते कला-शिल्पियों की भीष्म साहनी के ''हानूश'' तथा जगदीशचंद्र माथुर के ''कोणार्क'' नाटकों के मद्देनजर रखने का प्रयास है।

भीष्म साहनी का नाटक ''हानूश'' (1977) चेकोस्लोवाकिया की एक दंतकथा पर आधारित है। समकालीन हिंदी नाटककारों की इतिहास-दृष्टि आदर्शपरक नहीं है, बल्कि उनमें समसामयिक परिवेश और युगबोध की अभिव्यक्ति गहनता से सक्रिय है। प्रायः नाटककारों ने वर्तमान युग की राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में उत्पन्न विसंगतियों, मानवीय संबंधों की हास्यास्पद स्थिति, औद्योगिक युग की यांत्रिक जिंदगी के अभिशापों, बेरोजगारी, पूँजीवाद और सत्ता की भ्रष्टनीति, दो पीढ़ियों के संघर्ष, आर्थिक वैषम्य के दुष्परिणामों, स्त्री-पुरुष संबंधों, युवा पीढ़ी की दिशाभ्रांत स्थिति आदि को कथ्य के रूप में अपनाकर नाटक को प्रत्यक्ष जीवन के निकट लाने के प्रयोग किए हैं। हमारी सामाजिक मान्यताओं को देवत्व के लबादे से छिपाने का प्रयत्न किया है, जबकि नए नाटककार ने मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा और उसे ही उसकी शोषित और विसंगत अवस्था के साथ प्रस्तुत किया।

चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग की एक मीनारी घड़ी के बारे में प्रचलित तरह-तरह की कहानियों में वर्णित घटना को आधार बनाकर भीष्म साहनी ने अपने इस नाटक में एक मानवीय स्थिति के तीखेपन को हमारे अनुभव का केंद्र बनाया। 'हानूश' नाम के एक साधारण कुफ्ल-साज पर घड़ी बनाने की धुन सवार होती है। जीविका के भयानक संकट से गुज़रते हुए उसके परिवार की पृष्ठभूमि में इस धुन को महज एक सनक से ज्यादा कुछ भी कोई नहीं मानता। स्वयं उसकी पत्नी क्षुब्ध होकर कह उठती है—''इसने घड़ी नहीं बनाई तो क्या दुनिया का कारोबार बंद हो जाएगा?...घड़ियाँ बनाने का शौक था, तो फिर ब्याह नहीं करना चाहिए था।'' सत्रह साल तक लगातार सनकी तथा गैर-जिम्मेदार पति और पिता समझे जाने वाले हानूश की यह धुन एक दिन उपलब्धि की महत्त्वपूर्ण घड़ी के रूप में सामने आती है और तब जहाँ एक ओर उसे पहली घड़ी बनाकर मुल्क की रौनक बढ़ाने के लिए सम्मानित किया जाता है, वहीं दूसरी ओर मुल्क के बादशाह द्वारा उसे अपनी आँखों से सिर्फ इसलिए वंचित कर दिया जाता है कि वह कोई दूसरी घड़ी बनाकर उससे किसी अन्य मुल्क की वैसी ही रौनक बढ़ने का खतरा न पैदा कर सके। सत्ताओं के साथ आज जब राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न मानव-घाती अहम्मन्यता का रूप लेता जा रहा है, हानूश नाटक का कथ्य स्थितियों की विडंबना पर पहले से भी ज्यादा प्रकाश डालने वाला साबित होता है। पूरे नाटक में हानूश के व्यक्तित्व के तीन आयाम हैं – एक, आत्मविश्वासी, दूसरा, महत्त्वाकांक्षी और तीसरा, स्वाभिमानी। लोहार और हानूश के आपसी मतैक्य की ऊर्जा में हानूश के त्रिआयामी व्यक्तित्व के उपर्युक्त तत्त्व निखरकर सामने आते हैं।

नाटक के संबंध में दो शब्द के अंतर्गत भीष्म ने लिखा है कि—''यह नाटक एक मानवीय स्थिति को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयास मात्र है। पर इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि नाटक की संवेदना भी मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य तक ही सीमित है।'' नाटककार ने यहाँ मध्ययुगीन प्रसंग को आधुनिकता का अनुषंगी बनाया है। क्या हमारे समकालीन जीवन की यह भी एक विडंबना नहीं है कि सारी प्रगति के बावजूद शोषण के मध्ययुगीन अंदाज कई रूपों में आज भी जहाँ के तहाँ हैं? हानूश नाटक हमारे अपने वक्त के ऐसे ही अंदाजों की कलई खोलता है। जैसे तीसरे दृश्य में बादशाह एक ही साँस में यह आदेश देता है कि ''हानूश कुफ्लसाज़ को उसकी आँखों से महरूम कर दिया जाए'' और उसी साँस में यह कि ''याद रहे, हानूश अब राजदरबारी है। पूरे अदब-कायदे से इसके साथ बर्ताव किया जाए।'' नगरपालिका में बादशाह हानूश की प्रशंसा करता है। उसे एक हजार सोने की मोहरें ईनाम में देता है एवं उसका महीना बाँध देता है और उसे दरबारी का सम्मान प्रदान करता है आँखों से महरूम करने की वजह वह और घड़ियाँ न बना सके। यह है पुरस्कार, अपनी जवानी घड़ी बनाने में खपा देने का, अपना पुत्र खो देने का, भूखा रहने का एवं खाँसते-खाँसते काम करने का। उसकी यह विडंबना है कि एक तरफ अंधा और दूसरी तरफ राजदरबारी। उसके घर में सभी प्रकार की सुविधाएँ आ जाती हैं। परंतु उसके स्वभाव में मात्र अवसाद और कटुता भर जाती है।

हानूश सत्ता के समक्ष संघर्ष एवं जूझ का हामी है और यह जूझना कलाकार के माध्यम से होता है। इनमें धर्म एवं राजनीति की सत्ता बनाम साहित्य और कला का त्रिकोण बनता है, जो एक आदमकद आईना सिद्ध होता है। ''कबिरा खड़ा बाजार में'', कबीर के समक्ष खड़ा किया गया भीष्म साहनी का सिकंदर लोदी भी कम मजहबी न था। ऐसे मजहब के बारे में रैदास से कह चुके कबीर—''कोई ऐसा धर्माचार नहीं, जो इंसान को इंसान के साथ जोड़े। सभी इंसान को इंसान से अलग करते हैं, एक को दूसरे के दुश्मन बनाते हैं।'' ऐसे धर्म एवं सत्ता के फरमाबरदार के रूप में कायस्थ चेतावनी दे चुका है कबीर को—''यह काशी है। लोग तुम्हें कुचल देंगे। यहाँ का राजा हिंदू है, पर कोतवाल तुर्क है। लोदी बादशाह की अमलदारी है। और तुम खुद मामूली जुलाहे हो।'' सत्ता और ताकत के गठजोड़ में कोई धर्म-जाति-संप्रदाय-मत-उसूल आड़े नहीं आते, इसे आज के युग से अधिक भला कौन जान सकता है। कबीर को कुचलने वाली ताकत के लिए सत्ता में हिंदू-मुसलमान ...सबका एक हो जाना इसी जीवन सत्य का निदर्शक है, लेकिन वह समूह की ही ताकत थी, कबीर जैसे व्यक्तित्व का आत्मविश्वास था कि वे सिकंदर लोदी के समक्ष साफ-साफ कह सके—''मैं इंसान को हिंदू और तुर्क की नज़र से नहीं देखता। मैं उसे केवल इंसान की नजर से, खुदा के बंदे की नजर से देखता हूँ...जन्म से सभी इंसान होते हैं।'' कबीर की इस कड़वी सच्चाई को सुल्तान और कोतवाल दोनों यानी पूरी सत्ता सुनती है।

समाज में सक्रिय रहकर अपनी कवि-चेतना से अवाम को साथ कर लेने वाले कबीर के माध्यम से जिस सरोकार की बात भीष्म जी ने कही है, वही बात इससे चार-पाँच वर्ष पहले सुरेंद्र वर्मा ''आठवाँ सर्ग'' में कालिदास के माध्यम से कहते हैं। यहाँ सत्ता की अधिकार-सुख भोगने की प्रवृत्ति जब साहित्यकार को दंडित स्वरूप प्रतिबंधित करती है, तो वह सत्ता से अपने को काट लेता है और अपनी रचनाशीलता में लग जाता है। कबीर की तरह समाज में नहीं जाता। कालिदास यहाँ अंतर्मुखी है। परंतु भिन्न प्रक्रियाओं से भी परिणाम एक ही होता है—''कालिदास के साथ भी जनता वैसे ही उमड़ती है और सत्ता को कवि के घर आकर उसे सम्मानित करने के लिए तत्पर होना पड़ता है।'' गरज यह कि सत्ता की निरंकुशता के समक्ष सामाजिक प्रतिबद्धता की यह आपातकालीन चेतना है। ''आठवाँ सर्ग'' भी आपातकाल में छपा था। भीष्म जी के कबीर एवं सुरेंद्र वर्मा के कालिदास के प्रयत्न दिखते अलग जरूर हैं, परंतु प्रवृत्तियों के परिणाम एक ही हैं। ''कबिरा खड़ा बाजार में'' आपातकाल से 4-5 सालों बाद आया। और इस काल की वृत्ति ही थी जनतंत्र में तानाशाही।

यहाँ एक बात और करने की है कि जिस कबीर को पंडित-मुल्ला अकेले ही पीट दिया करते थे या उसे कभी बचपन में बाँधकर पानी में फेंक दिया था, वह कबीर जब अपनी जमीन तैयार करता है, अपने साथी बनाता है और जन-जन की जुबान पर चढ़ जाता है। अगर उसके साथ उसकी मंडली न होती तो क्या सिकंदर लोदी से भिड़ सकना आसान होता? नाटक के अंत में कबीर को सजा का फरमान देने आए सिकंदर को केवल फतवा जारी करके चले जाने को विवश हो जाना पड़ता है। सत्संग करने वाली जमात यानी जनता के सपोर्ट का यह प्रताप था। यहाँ इस संदर्भ में यह सिद्ध बात है कि स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में यदि जनता की बैकिंग न होती, तो चिड़ी-सी जानवाले महात्मा गाँधी के लिए क्या अंग्रेजी हुकूमत के पास एक गोली न थी।

कलाकार की कला को निजी संपत्ति बनाकर रखने की सामंतवादी (पूँजीवादी) वृत्ति हानूश में अपने नग्न रूप में उजागर हुई है। हुक्मरान के पास जो कुछ हो, वह फिर दूसरे किसी के पास न हो, के स्टेटसवाला गुरूर तानाशाहत के जघन्यतम रूप में उभरा-घड़ीसाज कलाकार हानूश की आँखें फुड़वा दी जाती हैं। भीष्म जी की प्रगतिशील सोच के तहत हानूश का श्रमजीवी होना भी युक्तिपूर्वक आया लगता है। इस मेहनतकश कलाकार ने केवल अभावों में जीते हुए ही नहीं बल्कि अपनी पत्नी की लताड़-फटकार की जलालत को सहकर उस घड़ी को सत्रह साल की कड़ी मेहनत और लगन से बनाया था। इस कठिनता से भाग निकलने के सारे प्रयत्न नाकाम होते हैं। हानूश द्वारा आजमाए जाने वाले प्रयास—घड़ी फोड़ने से लेकर आत्महत्या तक के प्रयास भाँप लिए जाते हैं। लेकिन मौका मिलने पर अपने सृजन के प्रति अंतरिम लगाव घड़ी को फोड़ने न देकर उसे अनायास ठीक करा देता है। एक सर्जक का हृदय अपनी कृति के प्रति संवेदना से कितना जुड़ा होता है, उसकी जहनियत का प्रमाण देता है। देश छोड़कर भागने की योजना को सत्ता के खुफिया लोग जान लेते हैं। ऐसे में हानूश

अपने सहयोगी शागिर्द को दूसरे देश में भेजने की योजना में सफल हो जाता है। अपनी कला-चेतना को मुक्त कराने के बाद निडर हो चुके हानूश की आश्वस्ति एक श्रमजीवी कलाकार की आश्वस्ति है। जाहिर है अब उसे अपने मरने की फिक्र नहीं। कला-मूल्य के माध्यम से मानव-मूल्य की यह पहचान प्रखर सामाजिक सरोकार ही है। यहाँ हानूश की मुक्त चेतना यह ऐलान कर सकती है—''अब मुझे कोई अफसोस नहीं। किसी बात की चिंता नहीं। अब मुझे विश्वास है घड़ी कभी बंद नहीं होगी।''

राजनीति और धर्म की सत्ताओं के तिलिस्म में कलाकार भी किस तरह तानाशाही का शिकार हो जाते हैं, इसे जगदीशचंद्र माथुर ने ''कोणार्क'' (1950) नाटक के माध्यम से उजागर किया है। प्रस्तुत नाटक में इतिहास, संस्कृति और समकालीनता मिलकर निरवधिकाल की धारणा और मानवीय सत्य की आस्था को परिपुष्ट करते हैं। इसमें तेरहवीं शताब्दी में निर्मित प्रख्यात कोणार्क मंदिर के निर्माण एवं ध्वंस की कहानी है। जगन्नाथपुरी से उन्नीस मील दूर समुद्र तट पर यह मंदिर आज भी भग्नावस्था में स्थित है। मंदिर का मुख्य अंश टूटा पड़ा है। विशाल प्रांगण में ध्वस्त मूर्तियाँ और पत्थरों का ढेर है। लेखक ने ऐतिहासिकता का सहारा लेते हुए मंदिर के निर्माण और ध्वंस के पीछे कलाकार के गहन अंतर्द्वंद्व को मुख्य शिल्पी विशु की कथा के द्वारा गढ़ा है। विशु को उस युग का महान शिल्पी बताते हुए लेखक ने उसी के हाथों विश्वप्रसिद्ध कोणार्क मंदिर का निर्माण चित्रित किया है। वह अपनी कला के प्रति हृदय से समर्पित है और अपनी लगनशीलता से सूर्यदेव के अप्रतिम मंदिर का निर्माण करता है, कोणार्क का सूर्यमंदिर शिल्पी विशु की अभूतपूर्व कला है, सूत्रधार कहता है कि—''बारह सौ शिल्पियों और मजदूरों की बारह बरस की लंबी साधना और कठोर मेहनत के बाद विशु की विराट कल्पना साकार हो चली है। ... पाषाण का एक विशाल रथ...। मंदिर के भीतर है एक अनोखा चमत्कार-सूर्य भगवान की जाज्वल्यमान मूर्ति, चुंबक पत्थर के आकर्षण से, निराधार, शून्य में लटकी हुई है।'' किंतु कालांतर में विश्वासघाती महामात्य चालुक्य द्वारा महाराज नरसिंहदेव के साथ विश्वासघात करने एवं मंदिर पर आक्रमण करने और उस संघर्ष में अपने प्राणप्रिय पुत्र धर्मपद की निर्मम हत्या होते देख विशु का भावुक कलाकार हृदय प्रतिशोधाग्नि में जलने लगता है। उसका अंतर्द्वंद्व इतना अधिक उग्र हो उठता है। कलाकार के इस अंतर्द्वंद्व को नाटककार ने कथा के अंत में प्रस्तुत किया है—''कोणार्क-मेरी निधि...कोणार्क-मेरी सृष्टि अपावन हाथों में, भ्रष्ट हाथों में? यह कैसा अभिशाप। ओ अभागे कारीगर, कहाँ है तेरा गौरव, कहाँ है तेरी मौन तपस्या का पुरस्कार?... कारीगर की हार। ...असंभव, कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं रहेगा, हे सूर्य भगवान, हे भुवनभास्कर। बारह बरस तक दत्तचित्त हो मैंने तुम्हारे योग्य यह अभूतपूर्व गृह तैयार किया। आज जब उस लगन और तपस्या के बाद तुम्हारी उपासना का अवसर आया, तो तुम्हारे शिल्पी को ठुकराने वाले, उनके निर्दोष रक्त से रँगे हाथ तुम्हें अपनाने आ रहे हैं। भगवान मैं यह कैसे सह सकता हूँ? तुम मेरे, सारे जगत के

प्रतिपालक हो, पर मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि मैं तुम्हारा निर्माता हूँ। तुम मेरे देव हो। तुम्हें मेरा कहा करना होगा। कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं हो सकता। मैं और तुम मिलकर ऐसा नहीं होने देंगे। ...नहीं। ठीक है न मेरे भगवान।'' और विशु भावावेश में शिखर पर पहुँच जाता है और उसे तोड़ने लगता है। चुंबक के टूटते ही चालुक्य आदि सब नष्ट हो जाते हैं तथा मंदिर भी ध्वस्त हो जाता है। लेखक ने विशु के द्वंद्वग्रस्त चरित्र के माध्यम से कलाकार के युग-युगीन अंतर्संघर्ष को ही यहाँ पर चित्रित किया है। कवि सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में कहें तो—''आज के राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष के जर्जर युग में कोणार्क के द्वारा कला और संस्कृति जैसे अपनी चिरंतन उपेक्षा का विद्रोहपूर्ण संदेश मनुष्य के पास पहुँचा रही है।''

नाटक को पढ़ने के बाद यहाँ भी यह बात साफ हो जाती है कि किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती, राजसी यातना, आधिकारिक अन्याय कलाकारों एवं सामान्य प्रजावर्ग को झुका नहीं सकता, तोड़ भले ही दे। उत्पीड़क, तानाशाह कभी भी मानव के इतिहास पर पूरी तरह हावी नहीं हो सकता। और न ही मानव की जीवन कला के सत्य को पूरी तरह आज तक मिटा पाया है। यही भारतीय दृष्टि है – सत्यमेव जयते है। यही बौद्धों का रचनात्मक कल्याणकारी अहिंसक लोकभाव है। कोणार्क का विवश-विध्वंस कला के प्रति, मानवीय मूल्यों की अस्मिता के प्रति लेखक के अतुलनीय विश्वास को व्यक्त करता है। जबकि हानूश में एक संघर्षशील कलाकार, रचनाकार के अस्तित्व संकट की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति है और इस मूल सत्य के साथ है सत्ता की विध्वंसात्मक शक्ति, जनशक्ति और सामाजिक-पारिवारिक-आर्थिक संघर्ष।

नाटक के विषय में यह मान लिया गया है कि नाटककार का लक्ष्य लोक-प्रसादन करना है। प्रेक्षकों को आनंद (रस) प्रदान करते हुए मात्र मनोरंजन को निचली भाव-भूमि से उठाकर इंद्रियातीत विलक्षण रसदशा तक ले जाना है। मनोरंजन, आह्लाद और आनंद की ये समस्त लक्ष्यवाहिनी विचारणाएँ रस तत्त्व के अंतर्गत आ जाती हैं। नाटक का उद्देश्य सदैव मात्र रस प्रदान करना ही न रहकर लोकवृत्ति का युगानुरूप संस्कार एवं शिवत्वपूर्ण सर्वधर्मसमभावयुक्त सत्य की पुनर्स्थापना भी हो जाता है।

संदर्भ :

1. जगदीशचंद्र माथुर, कोणार्क, प्रका. 1950
2. भीष्म साहनी, हानूश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1977
3. नामवर सिंह, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन,
4. श्यामाचरण दुबे, परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1991
5. आलोचना त्रैमासिक, संपा. – नामवर सिंह, अंक—अप्रैल-सितंबर, 2004।

हिंदी प्रवासी साहित्य की त्रिखंडी प्रस्तुति

कृष्ण वीर सिंह सिकरवार*

वर्ष 2011 में अमित प्रकाशन, गाजियाबाद से प्रकाशित 'हिंदी का प्रवासी साहित्य' का विस्तृत रूप 'हिंदी प्रवासी साहित्य' (तीन खण्ड) में देखने को मिलता है। इन खण्डों की योजना की पृष्ठभूमि को परिभाषित करते हुए डॉ. गोयनका कहते हैं कि 'रायपुर के श्री जयप्रकाश मानस एक समर्पित हिंदी लेखक है। वे यदा-कदा लेखकों के सम्मेलन करते रहते हैं। एक बार उन्होंने मुझे रायपुर बुलाकर सम्मानित किया था.. .उन्होने 'पाण्डुलिपि पत्रिका' (जिसका वे श्री विश्वरंजन के प्रस्ताव पर कार्यभार देखते थे) के 'हिंदी प्रवासी विशेषांक' के प्रकाशन के मेरे प्रस्ताव को श्री विश्वरंजन से स्वीकृत कराकर भेजा और उन्होंने मुझे ही इसके संपादन के लिए कहा। मैंने भारतेतर देशों में रहनेवाले अपने मित्र लेखकों से संपर्क किया और इससे मेरे पास काफी सामग्री एकत्र हो गई। 'पाण्डुलिपि पत्रिका' के हिंदी प्रवासी विशेषांक की पाण्डुलिपि तैयार करके रायपुर के संबंधित प्रकाशन को सौंप दी। विशेषांक की पाण्डुलिपि जब लगभग कंपोज हो गई, तब मालूम हुआ कि श्री विश्वरंजन ने किन्हीं कारणों से इसके प्रकाशन से अपना हाथ खींच लिया। इससे मैं बड़े असमंजस और दुविधा में फँस गया, क्योंकि मेरे विदेशी भारतीय लेखक मित्र इस विशेषांक की प्रतीक्षा कर रहे थे और मेरे पास उन्हे संतुष्ट करने के लिए कोई उत्तर नहीं था...इस विशेषांक की पृष्ठ संख्या लगभग 500 थी, अतः इसे पत्रिका के रूप में किसी अन्य का छापना कठिन ही था, अतः यह निर्णय किया कि इस सामग्री को कुछ खण्डों में पुस्तकाकार रूप में क्यों न प्रकाशित किया जाए...और इस प्रकार ''हिंदी प्रवासी साहित्य' के ये तीन खण्ड (1) कविता (2) कहानी तथा (3) लेख, लघुकथा, डायरी, साक्षात्कार, पत्र आदि प्रकाशित हो सके हैं।'' (भूमिका : 8)

* आवास क्रमांक एच-3, राजीव गाँधी प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, एयरपोर्ट वायपास रोड, भोपाल-462033 (म.प्र.), मो. 09826583363

'हिंदी प्रवासी साहित्य' के प्रथम खण्ड 'कविता' में अमेरिका, आस्ट्रेलिया, इंग्लैड, कनाडा, खाड़ी देश दुबई, जर्मनी, डेनमार्क, नार्वे, नीदरलैंड, फीजी, मॉरिशस तथा सूरीनाम आदि 12 देशों के 90 कवियों की कविताएँ संकलित हैं। 'हिंदी प्रवासी साहित्य' का दूसरा खण्ड 'कहानी' से संबंधित है, अर्थात् इसमें प्रवासी लेखकों की कहानियाँ संकलित है। इस कहानी संकलन में कुल 44 कहानियाँ हैं जो अमेरिका, इंग्लैंड, आबूधाबी, कनाडा, जापान, डेनमार्क, नार्वे तथा मॉरिशस के प्रवासी एवं भारतवंशी लेखकों द्वारा लिखी गई है। इन कहानियों का संसार बड़ा व्यापक है जो भारत के साथ भारतेतर देशों तक फैला हुआ है। यह एक ऐसा साहित्यिक संसार है, जो भारत के पाठक से लगभग अपरिचित ही था। प्रवासी कहानियों ने अपरिचित भारतीयों की इसी प्रवासी संसार को हिंदी पाठक के समक्ष उपस्थित किया और भारतीय प्रवासी जीवन की यथार्थ कहानियों का द्वार खोल दिया। इन कहानियों में नया भारतीय संसार है, नई अनुभूतियाँ और संवदनाएँ हैं, जीवन को देखने-समझने का नया दृष्टिकोण है; दो मित्र संस्कृतियों में जीने के संघर्ष और उनके द्वंद्व को साकार करने की सफल चेष्टा है।

'हिंदी प्रवासी साहित्य' के खण्ड-3 में प्रवासी-लेखकों की गद्य में रची एवं प्रकाशित रचनाएँ संकलित हैं। इसमें गद्य की उन विधाओं की रचनाएँ हैं जो लेखकों में कम लोकप्रिय हैं, लेकिन इनमे सर्जनात्मकता का दबाव कम नहीं है। ये विधाएँ हैं—आलेख, डायरी, पत्र, पुस्तक-समीक्षा, भूमिका, यात्रा-वृत्तान्त, लघुकथा, संपादकीय तथा साक्षात्कार आदि। इस खण्ड में सर्वाधिक रचनाएँ लेख के रूप में संकलित हैं। इनमें प्रमुखतः 'प्रवासी' शब्द तथा भारतेतर देशों के रचित साहित्य को 'प्रवासी साहित्य' कहने अथवा न कहने पर अच्छी बहस की गई है। लगभग 20 लेखकों द्वारा लिखे गए 29 आलेख संकलित किए गए हैं। आलेख के बाद अन्य आठ विधाओं की रचनाएँ दी गई हैं। डायरी में डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल की जापान की डायरी का एक अंश दिया गया है। यह महत्त्वपूर्ण अंश है और जापान के जीवन एवं चिंतन को प्रस्तुत करता है। पत्र में कुछ पत्र दिए गए हैं, जो विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गए हैं और पारस्परिक संबंधों की सुषमा को उजागर करते हैं। पुस्तक-समीक्षा में 9 लेखकों द्वारा 5 पुस्तक की समीक्षाएँ संकलित की गई हैं। भूमिका में दो लेखकों द्वारा लिखी 5 पुस्तकों की भूमिकाएँ दी गई हैं। तीन लेखकों के यात्रा-वृत्तान्त 12 लेखकों की 10 लघुकथाएँ प्रकाशित की गई हैं। 8 लेखकों द्वारा विभिन्न पत्रिकाओं की संपादकीय संकलित की गई हैं। 6 लेखकों के साक्षात्कार भी इस खण्ड में संकलित हैं। ये सब मिलकर प्रवासी रचनाधर्मिता उसकी संवेदना एवं चिंता तथा सृजनात्मक पक्षों को उद्घाटित करते हैं। यह एक प्रकार से बहुआयामी गद्यात्मक रचना संसार है, जिसकी एक झलक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की गई है।

हिंदी प्रवासी साहित्य की यह त्रिखंडी प्रस्तुति है जो पाठकों को पसंद आएगी

और प्रवासी साहित्य देश के दूर-दूर तक पहुँचेगा। प्रवासी साहित्य का यह वह संसार है, जो भारत के हिंदी पाठकों को नया लगेगा, किंतु इसमें वे अवश्य ही अपना एवं अपने समाज का चेहरा देख सकेंगे।

समग्रतः कहा जा सकता है कि जो पाठक प्रवासी साहित्य में रुचि रखता हो उसके लिए यह पुस्तक किसी वरदान से कम नहीं है। पुस्तक की साज सज्जा एवं गेट-अप अति उत्तम है। छपाई उम्दा एवं पैपर क्वालिटी भी बहुत बेहतरीन है। मुद्रण की अशुद्धियाँ न होने के कारण पाठक को पुस्तक पढ़ने में कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है। ऐसी बेहतरीन पुस्तक का सभी जगह स्वागत होना चाहिए तथा प्रवासी साहित्य में जिज्ञासा रखने वाले समस्त पाठकों को एक बार इस ऐतिहासिक पुस्तक को अवश्य देखना चाहिए।

डॉ. देवेंद्र आर्य के काव्य में ऊर्जस्वित सामाजिक बोध

मृत्युंजय उपाध्याय

मनुष्य और प्रकृति में निरंतर परिवर्तन की तीक्ष्णता और उसके प्रभाव का अंकन कवि को गहरा रचनाकार बनाता है और काल की सीमाओं को लाँघकर उनकी सभी रचनाएँ समकाल के साहित्य में सहज परिगणित होती हैं। इसे केवल अभिधात्मक न मानकर चल रही स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में साहित्य के उस उद्यम को ध्यान में रखना होता है, जो तब से आज तक अपने एजेंडा के कारण सामयिक हैं और आज के पाठक को गहरे छूता ही नहीं है, नितांत प्रासंगिक भी बना देता है। कवि डॉ. देवेंद्र आर्य की काव्य-कृतियाँ इसका प्रबल प्रमाण देती हैं। इनकी प्रकाशित काव्य-कृतियाँ हैं—ये टूटते अँधेरे, सूरज के द्वार तक, सुबह तो होगी, आओ पास बैठें, लिए सुहानी भोर, बरगद की छाँव, देवेंद्र सतसई-1, देवेंद्र सतसई-2, मैं उगते सूरज का साथी, साँस साँस मनुहार, आग लेकर मुट्ठियों में, मन वसंत के रंग, वातायन खोलो, रोशनी कैद है, आँगन उतरी धूप, पाँखों में आकाश, कुछ बूँदें अनमोल, नए क्षितिज की ओर, और जगत बने मनमीत। इनके बालगीत और राष्ट्रीय कविताएँ भी हैं। परंतु यहाँ विचारणीय है कि कवि ने समकालीन सच का किस प्रकार चित्रण किया है और उससे मुकाबला करने का कैसा मन बनाया है। मानवता पग-पग पर पराजित होने से बचे, मानवीय मूल्यों का क्षरण रुके, पारस्परिकता बढ़े, राष्ट्रधर्म मनुष्य से सदा श्रेष्ठ रहे और उसके खातिर प्राणाहुति भी सहज स्वीकार्य हो। एक भारतीय आत्मा (माखनलाल चतुर्वेदी) की 'मैं हूँ, एक सिपाही' की तरह—

नित्य शीश का दान, रक्त तर्पण भर का है ज्ञान,
एक लड़ने तक महमान, पूँजी है तीर कमान।

* पता : वृंदावन राजेंद्रपथ, धनबाद-826001, झारखण्ड, मो. 09065197429

यह संघर्ष, जद्दोजहेद सर्वत्र है सर्वदा है। इससे मानव अपने उन्नयन, विकास के मार्ग भला कैसे तलाशेगा, वह तो उससे निपटने और अपना वजूद महफूज करने में ही चुक जाता है। इस निराशा-हताशा के मध्य कवि आशा, स्वप्न, उत्साह का मार्ग प्रशस्त करता है। जन-जन को उत्साहित करता है–

आँधियों में दीप लौ जलती रही है
हर विपद् की घात भी मन ने सही है
वक्त का अपना सफर अंदाज अपना
चल पड़े तो दूर कब मंजिल रही है। (बूँद-बूँद सागर, पृ. 40)

संघर्ष, जिजीविषा, स्वप्न, अरमान और उत्साह के बिना यह जीवन कदापि जीने योग्य नहीं हो सकता है। मनुष्य में अनंत क्षमता है, शक्ति है, सामर्थ्य है। आवश्यकता उसको पहचाने की है, अपना जीवट दिखाने की है–

पंथ मेरे सामने है, फिर मुझे मझधार से क्या
पार से अनुबंध मेरा, फिर मुझे मझधार से क्या?
(मैं उगते सूरज का साथी, मैं अँधेरों से लड़ा हूँ।)

ऐसे घोर संकट में मानवता को सुरक्षा मिले, उसके विकास की प्रभूत संभावनाएँ हों। यह कर सकता है पारस्परिकता को जोड़ने वाला सूत्र स्नेह, जिस पर संसार बलि-बलि जाता है–

चाहता हूँ नेह के संबंध जोड़ूँ
आपदा का मनुज से अनुबंध तोड़ूँ (संकल्प : बूँद-बूँद सागर)

जीवन क्या है? अनवरत युद्ध। जो डट गया कटिबद्ध होकर, वह जीत गया। शेष नेपथ्य में फेंक दिया गया, जिसका नामलेवा कोई नहीं रहेगा। यहाँ क्षण-क्षण युद्ध जारी है चाहे वह मन के धरातल पर चाहे तन के धरातल पर हो। पर मन को सदा ऊँचा रखना है। युद्ध के लिए तैयार रहना है। तभी ऊँचाइयाँ मिलती हैं–

किसे मिली ऊँचाइयाँ, बिना कर्म बिन ताप।
अर्जुन अर्जुन तब बने, जबकि उठाया चाप ॥ (जगत् बने मनमीत)

चाहे सौ महाभारत लड़ना पड़े पर वह कभी पीठ नहीं दिखा सकता है। लड़ेगा, डटेगा आखिरी साँस तक –

वक्त के दुर्दांत दुख भी।
क्या चलेंगे साथ मेरे
सर उठाकर शान से अब तक जिया, कल भी जिऊँगा
मैं भविष्यत् के लिए हर वक्त से लड़कर चला हूँ।

आग लेकर मुट्ठियों में। हर कंठ में शिव-सा पला हूँ।

दिनकर इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। जो सरल हैं, निरीह और भोले-भाले हैं, उन्हें भी वह काल कराल, विकराल, महाकाल बनाकर समरोद्यत बनाते हैं–

रण रोकना है तो उखाड़ विषदंत फेंको
वृक व्याघ्र भीति से मही को मुक्त कर दो
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र
दाँतों में कराल काल कूट विष भर दो
रस सोखता है मही का जो भीमकाय वृक्ष
उसकी शिराएँ तोड़ो डालियाँ कतर दो।

(कुरुक्षेत्र : रामधारी सिंह दिनकर)

जो दुःख में जन्म लेता है, उसी में पलता है, उसे दुःख रुलाता नहीं है, माँजता है। उसे सतत जागरूक बनाता है। नई दृष्टि देता है। उसकी मंजिल ज्यादा दूर नहीं होती –

हार कर हारे नहीं हैं
पाँव मेरे
वह क्षितिज है दूर
पर इतना नहीं है
नियति चलना
ठहरना रुकना भला क्या
मैं सुबह की सुबह लाना चाहता हूँ।

(सुबह लाना चाहता हूँ, आग लेकर मुट्ठियों में)

आज आवश्यकता टूटते-बिखरते रिश्तों को जोड़ने की है। उसमें मानव-राग पैदा करने की है। वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे के भाव को अक्षरशः साकार करने की है–

आपसी संबंध रिश्ते शीघ्र जोड़ें
जो हुई भूलें उन्हें इक ठौर छोड़ें
अब क्षितिज पर देखिए पंछी चहकते
रूढ़ियों के बंध सारे आज तोड़ें। *(बूँद-बूँद सागर, संकल्प पृ. 35)*

कवि समाज, देश, मानवता के प्रति अपने संकल्प, संघर्ष को निरंतर दुहराता ही नहीं रहता, अपनी अनंत जिजीविषा और कर्मठता से उसे गति भी देता रहता है–

जीवन तो हार नहीं
जीवन है जूझना

पत्थर के दिल से ही
धारा का फूटना
गर्त में अनिश्चय-सी बिखरी परछाइयाँ
आओ, हम जीवन से जीवन का गीत लें।

(जीवन का गीत, बरगद की छाँव)

इस बात पर सदा बल दिया जाता है कि जीवन में प्रेम हो, बंधुत्व हो, पारस्परिकता और सहिष्णुता हो, तो जीवन का मार्ग सरल, सुगम हो जाता है। फिर वहाँ आपत्ति, कष्ट, अभाव, द्वेष टिक ही नहीं पाते–

जिंदगी छोटी बड़ी मत सोचिए
हो सके तो प्यार की बातें करो
आज तक अपने लिए जीते रहे
हो सके तो और की बातें करो

(चाँदनी बातें करो, मैं उगते सूरज का साथी)

इंद्रधनुष के रंग, कृति में कवि की संकल्पना है कि जीवन समर में विजय के तीन सूत्र हैं–संघर्ष, संकल्प और जिजीविषा। जीवन का सच यह है कि हम प्रयत्न से सदा भागते हैं, प्रयत्न लाघव (कम-से-कम कोशिश करना) हमारा स्वभाव हो गया है। यही है पलायनवाद। कृष्ण गीता में बार-बार अर्जुन को आदेश देते हैं कि अस्त्र उठाओ और युद्ध करो। कारण, बिना संघर्ष, युद्ध के आततायी हमें हमारा अधिकार नहीं देते–

तांडवी मुद्रा बिना यह जग
कहाँ कितना मना है
नवल युग की वंदना को
तुम उठो
मैं भी उठूँगा। (अँधेरा छँटेगा, फिर भी चलूँगा मैं)

कवि का मानना है कि हमारा मनोबल ऊँचा, प्रयत्न सघन होगा, तभी सफलता हमारे कदम चूमेगी। हमें अग्निपथ पार करना पड़ सकता है, पर परवाह नहीं–

अंगारों पर पाँव धर, जो करते पथ पार।
विपदाएँ सौ जाल बुन, मन से जातीं हार ॥

(दोहा 359)

इतना ही नहीं, कवि पूर्णतः आग का शोला बन गया है। सर्वत्र उसकी दाहकता फैलाकर विपत्तियों, बाधाओं से पार, होना चाहता है। चाहे मिलें काँटे या मिलें फूल। बंजर धरती आए भाग्य में या फिर मधुवन का लहराता भूखंड। नई आशा, विश्वास,

प्रयास से उसे नंदन बनाने का जज्बा रखना है–

हर विषमता ओढ़-कर
सबके लिए पथ में खड़ा हूँ
विषधरों के बीच
मेरा चंदनी अहसास भी है
आग लेकर मुट्ठियों में
मैं अँधेरों तक चला हूँ
हर चुनौती में हुआ मजबूत
यह विश्वास भी है।

(लगन वैसी अब कहाँ है, आग लेकर मुट्ठियों में)

काँटे और विष बुझे बाण का दंश भी कम घातक नहीं होता है। समाज में नाना प्रकार के लोग हैं। ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि सुलगती, जन-जन को झुलसाती हुई परंतु कवि यहाँ भी आशा-विश्वास का दामन थामे रहता है। ''आशा के प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज''। (कुरुक्षेत्र) दिनकर की तरह। भले ही गोलाबारी हो, धमाके पर धमाके दिल को दहला दें, पर कवि रुकने वाला, हारने वाला नहीं है। काँटों में खिलाया है गुलाब, आवें में तपकर घड़ा बनता है मंगलघट। अगजग की प्यास बुझाता है। कवि को किसी विषमता-विपरीतता से न निराशा है, न पथ में बाधा। वह अविराम, अप्रतिहत चलता ही जाता है–

रात दर्द के सन्नाटे को
कब तक ओढ़ेगी
रोज सुबह की आहट
सुख का घूँघट खोलेगी
सबके लिए आज प्राणों के प्राण सजाता चल
फागुन जब आए आए तू फाग उड़ाता चल।

(दीप जलाता चल, बरगद की छाँव)

वह ध्रुवस्वामिनी (जयशंकर प्रसाद) के गीत से प्रेरित, प्रभावित है। उमंग, उल्लास से आपूरित–

मंजिलें उनको मिलीं जो बढ़ चले हैं,
आग में फौलाद-सा बन जो ढले हैं
वृक्ष वो ही तन खड़े जो पर्वतों पर
आँधियाँ तूफान में रहकर पले हैं।

(बूँद-बूँद सागर, पृष्ठ 20)

कवि में यही जोश, खरोश है। विपरीतता, विषमता में अपना पथ प्रशस्त करना। मानवता की राह सुगम करना। यों यहाँ मनुष्य कहाँ है? उनके मुखौटे-भर हैं। मनुष्य उन्हें ही असली चेहरा मानने की भूल कर रहा है—

ऊपर ऊपर से भले, भीतर भरी अंगार।
अजब मुखौटों से बँधा, रंगमंच संसार ॥

(इंद्रधनुष के रंग, दोहा 374, पृ. 66)

कवि को आज का रवैया बहुत खलता है, जहाँ अपनी डफली, अपना राग है। लोगों से क्या मतलब, अपना स्वार्थ सध जाए, बहुत है—

ऊपर चादर बर्फ की, भीतर जलती आग।
पता नहीं ज्वालामुखी, कब जाएगा जाग??

(इंद्रधनुष के रंग, दोहा 385, पृ. 67)

कैसी विचित्र विडंबना है कि संवेदनाएँ मर गई हैं। ठंडी हो गई हैं बर्फ के समान। उससे भला पीड़ित मानवता का कितना हित सधेगा। भावनाएँ भी दम तोड़ चुकी हैं। भले ही हम गुलाबी धूप घर-घर रोप आएँ। अंधकार का गहरा आतंक हो फिर भी कवि न हारने वाला है न थकने वाला। वह पीड़ित दलित, थके-हारे के साथ डटकर खड़ा है अटल विश्वास के साथ।

जो दबा कुचला थका हारा पड़ा है
आज मेरा मन उसी पथ में खड़ा है
यह अटल विश्वास लेकर जो चलेगा
जीत जाने तक वही रण में लड़ा है।

(बूँद-बूँद सागर, संघर्ष, पृ. 21)

कवि को अपने प्रयास पर बहुत भरोसा है। अखंड विश्वास है। विश्वास का फल अनुकूल होता है। विपरीतता उसे बल देती है। उत्साह देती है। पर कवि कभी हिम्मत हारने वाला नहीं है—

मन सागर-सा बने, बने घन
ऐसी कोई साध नहीं है
पर मरुस्थल की विकट प्यास को
चार बूँद का सावन दे दूँ।

(चार बूँद का सावन दे दूँ, मैं उगते सूरज का साथी)

दुःख उसका साथी है, जो गुरु की तरह उसे सिखाता है कि संसार के लिए मरना, मिटना भले संभव कर लिया जाए। पर उससे प्रतिदान की आशा व्यर्थ ही है।

'नेकी कर दरिया में डाल' वाली कहावत को चरितार्थ करते जाना है। कवि के लिए दुःख है उसका गुरु, जो सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है–

दुख साथी गुरुभाव से, रोज करे आगाह।
मरो मिटो जग के लिए, पर मत रखना चाह ॥

(इंद्रधनुष के रंग, दोहा 269, पृ. 51)

अज्ञेय ने लिखा है कि दुःख माँजता है, तो जीवन की नई दृष्टि भी देता है। परंतु पंत का मानना है कि निरंतर दुःख रहे या सुख, दोनों उत्पीड़न का कारण हैं। कोई खाते-खाते मरे और कोई खाने के लिए मरे, यह तो मनुष्य जीवन की विडंबना है, जिससे छुटकारा क्या सहज हो सकता है? इसलिए कवि समाधान देते हैं सुख-दुःख का हो समान बँटवारा–

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित है अति सुख से,
मानव जग में बँट जाएँ,
दुख सुख से और सुख दुख से।

(सुख-दुख, सुमित्रानंदन पंत)

यह हमारी विवशता है या सीमा कि हम सबसे माँगते फिरते हैं। परंतु उन्हें देने का नाम कहाँ लेते हैं? जिस अनुपात में लिया जाए, उसी अनुपात में लौटाया भी जाए, यही है प्रकृति का नियम अन्यथा सारा संतुलन बिगड़ जाएगा। पृथ्वी पर इतना अनर्थ, हाहाकार, त्राहि-त्राहि मचने का कारण इसी संतुलन का अभाव है–

मैं कब मरु को दे सका, सृजन भरा उपहार?
बादल से कैसे कहूँ, बरस-बरस जलधार ॥

(दोहा 300 पृ. 46)

प्रकृति का नियम है, जो हम देंगे वही लौटकर आएगा, फिर हम अपना रवैया बदलें या परमुखापेक्षी बने रहें इस पर निर्भर है। कितनी बड़ी विडंबना है, कैसा विपर्यय है कि हम सदा माँगने, पाने की आकांक्षा से संचालित होते हैं। पर प्रकृति और पुरुष तो निरंतर लुटाता रहता है। बरसते, आलोकित होते रहते हैं–

धवल चाँदनी-सा सुयश, बाँध नेह की डोर।
तुलसी के मन में लिखी, राम भक्ति-सी भोर ॥

(नए क्षितिज की ओर, दोहा 184, पृ. 32)

उधर है प्रजातंत्र का चमत्कार। वहाँ मतदाताओं के बिकने का लगा है बाजार। प्रत्याशी अपनी जयजयकार भाड़ेवालों से करवा रहे हैं। ये प्रमुखतः चोर, दबंग, उचक्के हैं। दो नंबरी रास्ते से सत्ता पर अधिकार जमाकर जनता का शोषण करना चाहते हैं–

मेरी ही चर्चा करो, मेरी जय-जयकार।
चोर दबंगों से सजी, मेरी यह सरकार ॥

(नए क्षितिज की ओर, दोहा 196, पृ. 33)

ठीक इसके एकदम विपरीत कवि युद्धरत है। वह एक क्या सौ महाभारत लड़ने की हिम्मत रखता है। कारण, वही देश का सच्चा भक्त है। देश पर कुर्बान है। उसकी अस्ति-नास्ति पर ही इसका भविष्य निर्भर है–

युद्ध क्या हम सौ महाभारत लड़ेंगे
व्यूह में अभिमन्यु क्या कौरव फँसेंगे
संधि का तम दंश अब तक तो सहा है
अब हमारी शर्त वे घुटनों झुकेंगे।

(बूँद-बूँद सागर में, संकल्प, पृ. 29)

एक दीप जले, एक व्यक्ति आगे बढ़े तो सही, जल उठेंगे सहस्र दीप कारवाँ गुजरने लगेगा। भीतर आग दहकती रहेगी, तभी तो वह ज्वालामुखी बन फटेगी। एक शंकर समाज में जन्म ले ले, तो फिर देखिए चमत्कार–

एक है सौ कारवाँ तो खुद चलेंगे
एक दीपक से हजारों खुद जलेंगे
आग भीतर है, तभी ज्वालामुखी है
एक शंकर है हजारों खुद ढलेंगे।

(बूँद-बूँद सागर में संकल्प, पृ. 29)

कवि यहाँ संभावनाओं का तलाशी है। बीज है, उसमें अंकुरण की क्षमता है, तो वह एक दिन विशाल वृक्ष बनेगा। चाहिए उस बीज, संभावना की खोज। दुष्यंत कुमार एक चिनगारी ढूँढ़ लाने की बात करते हैं। कारण, वह जानते हैं तेल से भीगी बाती (संभावना) है वहाँ तैयार–

एक चिनगारी कहीं से ढूँढ़ लाओ दोस्तो।
इस दीए में तेल से भीगी हुई बाती तो है।

(साए में धूप)

कवि को हताशा, निराशा, दुराशा भी घेरती है। वह उदास, निराश भी कभी-कभी होता है। पर फिर उसमें नए जोश पैदा होते हैं। कुछ करने का जज्बा पैदा होता है–

बाँध कर चल तो सही
विश्वास तट का
क्या हुआ

जो आपदा पथ में खड़ी है।
कौन-सा प्रतिबंध
मन के द्वार पर है
आँधियाँ कब
आशियानों से बड़ी हैं।
कालगति को मोड़ पर्वत-सा तनो तो
हार को मैं जीत की धुन तक सहूँगा।

(शिव बनो तो : आग लेकर मुट्ठियों में)

यहाँ कवि में कुछ करने का जोश है, जज्बा है—

कुछ करो ऐसा अधर पर हास आए
रोशनी तम घाटियों में जगमगाए।

(बूँद-बूँद सागर, में संकल्प, पृ. 35)

हमारी अवनति, अगति का कारण है कि हम बँधे हैं विपत्ति के बंधन में। यह छोटा है, यह बड़ा है, इसका अहंकार अलग ही जानलेवा है। तुलसीदास ने कहा है, ''को बड़-छोट कहत अपराधू''। ऐसा कथन ही अपराध कहलाता है। आप इस द्वंद्व से ऊपर उठ जाएँ, विपत्ति के बंधन तोड़े जाएँ और प्रगति, उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो—

संबल दे आगे बढ़ो, तोड़ विपद् के पाश।
छोट-बड़े का अहं क्यूँ, बैठे खोल विनाश॥

(इंद्रधनुष के रंग, पृष्ठ 50, दोहा 320)

कवि आर्य में यह भाव सर्वत्र विद्यमान है। कारण उनमें ओज, पौरुष, दीप्ति हैं। इसीलिए वह सहज ही कह सकते हैं—

अंगारों पर पाँव धर, जो करते पथ पार
विपदाएँ सौ जाल बुन, मन से जातीं हार
बोकर देखो तो जरा, बंजर मन में आस।
संभव है मरु में जगे, नए सृजन की प्यास।

(इंद्रधनुष के रंग, दोहा 359, 96)

डॉ. आर्य की काव्य-यात्रा हमें कितना अनुप्राणित, प्रेरित, संबलित और उद्वेलित करती है, इसका पता एक-एक पंक्ति से मिलता है। यहाँ कहीं निराशा, हताशा, पराजय, वंचना, असफलता का भाव नहीं होता है। सर्वत्र आशा, स्वप्न, संभावनाओं का संचार होता रहता है। निराशा के विरुद्ध आशा और असफलता के विरुद्ध सफलता का यह राग बड़ा प्रेरक, आह्लादक और जीवंत है। दिनकर के 'आशा के

प्रदीप को जलाए चलो, धर्मराज (कुरुक्षेत्र) से आगे बढ़कर इन्होंने मानव में आशा उत्साह, आनंद का प्रभूत संचार किया है। उनकी पंक्तियाँ हमारे आदर्श, मूल्य, संस्कार को जगाती रही हैं कि आज की दिग्भ्रमित मानवता पथ-संधान कर पाए–

देश दो दिन का नहीं युग का यजन है
और बलिदानी लहू का चिर हवन है
आज तांडव और खप्पर के लिए ही
जनम है औ, जन्म का सार्थक मरण है।

(बूँद-बूँद सागर में अग्निपथ, पृ. 61)

इन कविताओं में एक साथ जीवन की मूल्य-चिंता है, तो देश की करोड़ों जनता के दुःख-दर्द का बयान है यथार्थता पर गहरी पकड़ है। कवि मर्सिया गाकर ही मौन नहीं होता राष्ट्र और राष्ट्रवासी के दुःख-दर्द का वह सहभोक्ता रहा है और उसे ही कविता की भाषा में व्यक्ति का, भारत और भारतीयों का हित-चिंतन और दिशा-दर्शन करता रहा है। यही है डॉ. देवेंद्र आर्य के काव्य में वर्णित ऊर्जस्वित सामाजिक बोध।

पाकिस्तान, जिन्ना और महात्मा गाँधी

डॉ. लक्ष्मी नारायण मित्तल*

11 अगस्त, 1946 को जब कायदे आजम जिन्ना ने पाकिस्तान की संविधान-सभा में उस देश में सभी संप्रदायों के बीच समता की बात की थी, तो बाद में पाकिस्तान में उस कथन को कायदे आजम का मतिभ्रम कहकर भुला देना ही ठीक समझा गया। यह बात उनके कुछ दिनों बाद के भाषणों और कथनों से उजागर भी होती है। आज 60 साल बाद यह कहना कठिन था कि इस महाद्वीप के इतिहास में इस विभाजन को टाला जा सकता था या नहीं।

8 अगस्त, 1942 को महात्मा गाँधी के प्रसिद्ध भाषण में अनेक बार जिन्ना का जिक्र आया है। यह भाषण गाँधीजी ने पहले सवा घंटे हिंदी में दिया था और फिर 4-5 मिनट अंग्रेजी में। गाँधीजी इस भाषण में कहते हैं कि, ''इस देश के करोड़ों मुसलमान, हिंदुओं के वंशज हैं। उनका वतन भारत के सिवाय कोई दूसरा कैसे हो सकता है? कुछ वर्ष हुए मेरा सबसे बड़ा लड़का मुसलमान बन गया। उसकी मातृभूमि क्या होगी? पोरबंदर या पंजाब? मैं मुसलमानों से पूछता हूँ – अगर हिंदुस्तान आपका वतन नहीं है तो आप किस मुल्क के हैं? किस अलग वतन में आप मेरे बेटे को रखेंगे जिसने इस्लाम ग्रहण कर लिया है?'

इसी भाषण में गाँधीजी कहते हैं–''जब स्कूल में था तब मैं मुसलमान और पारसी सहपाठियों से दोस्ती का खास खयाल रखता था। उस छोटी उम्र में भी मेरा यह विश्वास था कि अगर भारत के हिंदुओं को दूसरे संप्रदायों के साथ शांति और दोस्ती से रहना है तो उन्हें अलग पड़ोसी बनने की कोशिश करनी चाहिए।

जिन्ना के लिए वे कहते हैं –''मैं सब मुसलमानों और कायदे आजम जिन्ना से भी कहूँगा कि वे उन शानदार दिनों को याद करें और इस बात का पता लगाएँ कि आज हम इस उलझन में क्योंकर फँस गए हैं। एक समय था जब कायदे आजम खुद कांग्रेसी थे। आज अगर वे कांग्रेस पर नाराज हैं, तो इसका कारण यह है कि उनके मन में संदेह-विकार पैदा हो गया है।

* डॉ. लक्ष्मी नारायण मित्तल, एच- 399, ओल्ड हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, मुरैना-476001 (म.प्र.)

इसी भाषण में गाँधीजी कहते हैं, ''कायदे आजम से मैं कहूँगा : पाकिस्तान के बारे में आपके दावे में जो कुछ सच और मान्य है, वह पहले ही आपको मिल चुका है। जो गलत और अमान्य है एवं किसी के हाथ में नहीं है कि वह आपको दिया जा सके। अगर कोई आदमी कोई झूठी बात दूसरे से मनवाने में सफल भी हो जाए, तो भी वह ऐसी जोर-जबरदस्ती का फल बहुत समय तक नहीं भोग सकेगा।

गाँधीजी इसी भाषण में कहते हैं, ''कायदे आजम कहते हैं कि वे कड़वी बातें कहने पर मजबूर हैं। इसी प्रकार मैं भी कहूँगा : मैं अपने आपको मुसलमानों का दोस्त समझता हूँ।'' कायदे आजम से गाँधीजी पूछते हैं, ''अगर करोड़ों मुसलमान आपके साथ हैं तो क्या आप उन मुट्ठी-भर मुसलमानों को नजरअंदाज नहीं कर सके जो आपको गुमराह मालूम होते हैं? ...जिनके करोड़ों अनुयायी हों, उन्हें बहुसंख्यक संप्रदाय से डरने की क्या जरूरत है? उसे इस बात का क्या डर है कि बहुसंख्यक संप्रदाय अल्पसंख्यक पर हावी हो जाएगा? पैगंबर ने अरबों और मुसलमानों में जाकर कैसे काम किया था? उन्होंने अपने मजहब का प्रचार कैसे किया? क्या उन्होंने यह कहा कि मैं इस्लाम का प्रचार तभी करूँगा जब मेरे साथ बहुसंख्यक हो जाएँगे?

राजाजी को उत्तर देते हुए गाँधीजी कहते हैं, ''मैं पाकिस्तान को ठीक नहीं समझता। लेकिन मुसलमान उसकी माँग करते हैं। श्री जिन्ना उसकी माँग करते हैं और उन सबको इसका खप्त हो गया है, जो राजा जी कहते हैं कि क्यों न उनकी बात अभी मान ली जाए। वही श्री जिन्ना आगे चलकर पाकिस्तान की हानियों को समझेंगे और अपनी माँग छोड़ देंगे। मैं कहता हूँ, यह ईमानदारी की बात नहीं है कि जिस चीज को मैं गलत समझूँ उसे मैं ठीक मान लूँ और दूसरों से भी उसे ठीक मान लेने को कहूँ - यह सोचते हुए कि जब माँग का आखिरी फैसला करने का समय आएगा, तो उस समय वह माँग पेश नहीं की जाएगी।

इसी भाषण में गाँधीजी कहते हैं, ''कायदे आजम ने कहा कि चूँकि अँग्रेजों ने साम्राज्य मुसलमानों के हाथ से लिया था, इसीलिए वे अब मुस्लिम लीग को शासन सौंपना चाहें, तो लीग शासन सँभालने के लिए तैयार है। गाँधीजी आगे कहते हैं, लेकिन वह तो मुस्लिम राज होगा। मौलाना और मैंने जो पेशकश की है, उसका मतलब मुस्लिम राज या मुस्लिम प्रमुख नहीं है। कांग्रेस किसी वर्ग या संप्रदाय के प्रभुत्व को ठीक नहीं समझती। वह लोकतंत्र में विश्वास करती है, जिसके दायरे में मुसलमान, हिंदू, पारसी, यहूदी – इस विशाल देश में रहने वाले सभी संप्रदाय आ जाते हैं।

यूँ गाँधीजी पूरी तरह से काँग्रेस प्रस्तावों से सहमत भी नहीं थे। एक स्थान पर वे कहते हैं, ''जवाहरलाल ने स्वतंत्र भारत की जो योजना बनाई है, उसमें विशेषाधिकारों या विशेषाधिकार संपन्न वर्गों के लिए कोई जगह नहीं है। जवाहरलाल के विचार में सब संपत्ति सरकार की मिल्कियत होनी चाहिए। वे योजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था चाहते

हैं। वे उड़ना पसंद करते हैं, मैं नहीं पसंद करता।''

6 अक्टूबर, 1946 को 'हरिजन' में लिखते हुए गाँधीजी कहते हैं—''पक्की धारणा है कि मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की जो माँग उठाई है, वह गैर-इस्लामी है, इसलिए मैंने निःसंकोच उसे पापमय कहा है। इस्लाम मानव-जाति की एकता और भाईचारे का समर्थक है, वह मानव-परिवार की एकता को खंडित करने का पक्षधर नहीं है। इसलिए जो लोग भारत को दो युयुत्सु वर्गों में बाँट देना चाहते हैं, वे भारत के शत्रु हैं और इस्लाम के भी।''

इस टिप्पणी के दस वर्ष पूर्व 11 नवंबर, 1939 'हरिजन' में लिखते हुए गाँधीजी ने द्विराष्ट्र के सिद्धांत को अमान्य ठहराया था। वे कहते हैं, 'भारत के मुसलमान एक पृथक् राष्ट्र हैं, इसके पक्ष में कुछ तर्क दिए जा सकते हैं। लेकिन मैंने कभी किसी को यह कहते नहीं सुना कि दुनिया में जितने धर्म हैं, उतने ही राष्ट्र हैं।'

एक स्थल पर गाँधीजी ने कहा—'अगर भारत के मुसलमान वस्तुतः इसके लिए जोर देते हैं तो अहिंसा का पुजारी होने के नाते मैं प्रस्तावित विभाजन का बलपूर्वक प्रतिरोध नहीं करूँगा। लेकिन मैं देश के टुकड़े किए जाने का स्वेच्छापूर्वक समर्थन कभी नहीं कर सकता।'

विभाजन के बाद 26 सितंबर 1947 को 'हरिजन' में लिखते हुए गाँधीजी कहते हैं—'हर मुसलमान को भारत से बाहर निकाल देने और हिंदू तथा सिख को पाकिस्तान से खदेड़ देने का परिणाम होगा युद्ध और देश का सदा के लिए सर्वनाश।'

अपनी शहादत के कुछ दिनों ही पहले 18 जनवरी, 1946 को 'यंग इंडिया' में लिखते हुए गाँधीजी कहते हैं—'जब मैंने 1806 में आगरे और दिल्ली के किले देखे तो उनमें से किसी एक दरवाजे के ऊपर एक शेर खुदा देखा था जिसका अनुवाद है 'यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है, तो वह यहाँ है, यहाँ है, यहाँ है। अपनी सारी शान के बावजूद मुझे वह किला स्वर्ग नहीं लगा था। पर मुझे खुशी होगी कि पाकिस्तान के सभी प्रवेश-द्वारों पर इंसाफ के साथ उपर्युक्त शेर खुदा हो।' ऐसे स्वर्ग में न कोई कंगाल होगा, न भिखारी, न ऊँच, न नीच, न लखपति, न अधभूखा कर्मचारी, न मादक पेय, न नशीली दवाइयाँ। वहाँ जो सम्मान पुरुषों को प्राप्त होगा, वही स्त्रियों को भी दिया जाएगा। वहाँ छुआ-छूत का नामोनिशान नहीं होगा। और सभी धर्मों को समान आदर के साथ देखा जाएगा। ...वहाँ सभी लोग रोटी कमाने के लिए प्रसन्नता पूर्वक और स्वेच्छा से श्रम करने में गौरव का अनुभव करेंगे।'

विभाजन से तीन माह पूर्व 27 अप्रैल, 1947 को 'हरिजन' में लिखते हुए गाँधीजी कहते हैं—'मैं ऐसे पाकिस्तान की कल्पना नहीं कर सकता जिसमें गैर-मुस्लिम लोग, शांति और सुरक्षा से न रह सके, न ऐसे हिंदुस्तान की कल्पना कर सकता हूँ, जिसमें मुसलमान असुरक्षित हों।'

विभाजन के पश्चात् 27 सितंबर, 1947 के 'हरिजन' के लेख में गाँधीजी ने

कहा था, 'अगर भारत और पाकिस्तान के बीच निरंतर शत्रुता रही और उनमें परस्पर युद्ध हुआ तो दोनों डोमिनियन बर्बाद हो जाएँगे। मैं वह दिन देखने के लिए जीवित नहीं रहना चाहता।'

गाँधीजी चाहते थे कि दोनों डोमिनियन मित्रों की तरह काम करें और एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हुए भी उनमें जो बहुत-सी बातें समान हैं, उसके कारण दोनों के बीच सच्ची मित्रता और निष्ठा रहनी चाहिए।

विभाजन से एक माह पूर्व गाँधीजी ने कहा था—'भारत और पाकिस्तान दोनों नये राज्यों के लिए संभव है कि वे स्वाधीन विश्व-राज्यों के एक परिवार की स्थापना को अपना ध्येय बनाएँ, जिसके साथ यह बात अनिवार्यतः जुड़ी हुई है कि इन राज्यों की अपनी-अपनी आंतरिक सेनाएँ नहीं होंगी। (हरिजन, 13 जुलाई 1947)

बंबई में अखिल भारतीय काँग्रेस समिति की बैठक में 'भारत छोड़ो' संकल्प के निहितार्थों पर प्रकाश डालते हुए गाँधी जी ने कहा था—''उस छोटी-सी चीज (अंतरात्मा या आंतरिक मूल प्रकृति की प्रेरणा) पर विश्वास करो, जो तुम्हारे हृदय में बसती है। वह कहती है मित्रों को, पत्नी को – सबको त्याग दो लेकिन जिसके लिए तुम जीते रहे हो और जिसके लिए तुम्हें मरना है, वह सिद्ध करके दिखा दो। मैं इंग्लैंड को या अमरीका को भी स्वतंत्र देश नहीं मानता। ये अपने ढंग से स्वतंत्र देश हैं, पृथ्वी की अश्वेत जातियों को दासता के पाश में बाँधे रखने के लिए स्वतंत्र हैं। क्या इंग्लैंड और अमरीका आज इन जातियों की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं? ...यदि वे सच्ची स्वतंत्रता को जानना चाहते हैं, तो उन्हें भारत आना चाहिए।'

भारत की नियति पश्चिम के तौर-तरीकों से चलने में नहीं है। पश्चिम स्वयं उस पर चलकर थक चुका है। भारत को अपनी व्यवस्थाओं पर खड़ा होना है। इस उपमहाद्वीप में हिंदुस्तान, पाकिस्तान सहित अन्य देशों को भी औपनिवेशिक मानसिकता को छोड़ना होगा। इस भारतीय उपमहाद्वीप का जो अंतर्निहित चित्त है, उसके अनुसार देशज व्यवस्थाओं पर देश-समाज को खड़ा करना होगा।

केन्द्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्कः हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोनः 0562-2530684,
वेवसाइटः www.indisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमूख उद्देश्य

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवतापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उेश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

■ शिक्षणपरक कार्यक्रमः (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवद्धनात्मक कार्यक्रम, (vi) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जंनसचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

■ अनुसंधानपरक कार्यक्रमः (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेती अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयक्त अनुसंधान,

(iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रोद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

■ शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकासः (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (iv) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशनः हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथाअध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालयः भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालयः हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँः ■ भारतीय सांस्क तिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षिणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोश परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई-मेलः kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक
ई-मेलः nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in